विनोबा के विचार

[दूसरा भाग]

•

१९५२

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

तीसरी बार १९५२

मूल्य
दो रुपए

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय निवेदन

सन् १९४१ मे जब श्री विनोबा व्यक्तिगत सत्याग्रहके प्रथम सत्या-ग्रहीके रूपमें दुनियाके सामने आये तब उनकी प्रसिद्धि महाराष्ट्र और गुजरातके बाहर बहुत थोडी थी। उसी समय उनके विचारोके संग्रहका पहला भाग 'मडल' ने प्रकाशित किया था। उसका पहला सस्करण जरा देर से बिका। पर ज्यो-ज्यो लोग श्री विनोबाजीके मौलिक, सात्विक और लोक-हितकारी विचारोसे परिचित होते गये त्यो-त्यो उनके साहित्यकी माँग बडती गई और पहले भागका दूसरा और तीसरा सस्करण हुआ। अब तो तीसरा सस्करण भी खतम होनेको है। इधर दूसरा भाग भी प्रकाशित करनेका आग्रह पाठकोकी ओरसे होने लगा। कागजके नियन्त्रणमें कुछ सुविधा होते ही यह दूसरा भाग पाठकोंकी सेवामे उपस्थित किया जा रहा है। इसमे अधिकतर लेख मराठी 'ग्राम-सेवा-वृत्त' तथा हिन्दी 'सर्वोदय', वर्धासे लिये गए है।

इस सग्रहको प्रकाशित करनेकी अनुमति देनेके लिए वर्धाके 'ग्राम-सेवा-मडल' के हम बहुत आभारी है।

—मन्त्री

तीसरा संस्करण

हिन्दीके पाठक विनोबाजीके विचारोसे इतने प्रभावित होने लगे है कि उनके साहित्यकी माग निरन्तर बढती जा रही है। 'विनोबाके विचार' के दूसरे भागका यह तीसरा सस्करण है। पुस्तकका तीसरा भाग भी तैयार हो रहा है। आशा है, जल्दी ही उसे पाठकोकी भेट कर सकेगे।

—मन्त्री

विषय-सूची

●

विनोबाके विचार

दूसरा भाग

: १ :

जीवन की तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमें तीन बातोको प्रधान पद देता हू । उनमे पहली है उद्योग। अपने देशमे आलस्यका भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारीके कारण आया है । शिक्षितोका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नही रहता। और जहा उद्योग नही वहा सुख कहा ? मेरे मतसे जिस देशमे उद्योग गया उस देशको भारी घुन लगा समझना चाहिए । जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरह का हो। पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नही। घरोमे उद्योगका वातावरण होना चाहिए। जिस घरमे उद्योगकी तालीम नही है उस घरके लडके जल्दी ही घरका नाश कर देंगे। ससार पहले ही दु खमय है। जिसने ससार मे सुख माना है उसके समान भ्रममे पडा और कौन होगा ? रामदास जी ने कहा है—"**मूर्खामांजी परम मूर्ख। जो संसारीं मानी सुख।।**" अर्थात् वह मूर्खोंमे भारी मूर्ख है जो मानता है कि इस ससारमे सुख है। मुझे जो मिला दु खकी कहानी सुनाता ही मिला। मैने तो कभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है। पर ऐसे इस ससारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नही है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है। कपडा हरेकको जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष

सूत कातकर अपना कपडा तैयार कर सकता है। चर्खा हमारा मित्र बन जायगा, शातिदाता हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे सभाले। दु.ख होने या मन उदास होने पर चर्खेको हाथमे ले ले तो फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमे लग जाता है और दु ख बिसर जाता है। गेटे नामक कविका एक काव्य है, उसमे उसने एक स्त्रीका चित्र खीचा है। वह स्त्री बहुत शोक-पीडित और दु खित थी। अतमे उसने तकली सभाली। कविने दिखाया है कि उसे उस तकलीसे सात्वना मिली। मै इसे मानता हू। स्त्रियोके लिए तो यह बहुतही उपयोगी साधन है। उद्योगके बिना मनुष्यको कभी खाली नही बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नही है। किसीको नीद आती हो तो सो जाय, इस पर मै कुछ नही कहूगा, लेकिन जाग उठने पर समय आलस्यमे नही बिताना चाहिए। इस आलस्यकी वजहसे ही हम दरिद्री हो गये है, परतन्त्र हो गये है। इसीलिए हमे उद्योगकी ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह **भक्तिमार्ग** है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई सस्कार पडा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममे दोनो वक्तकी प्रार्थना करनेकी आदत पड गई। इसलिए मेरे अन्दर वह खूब हो गई। पर भक्तिके माने ढोग नही है। हमे उद्योग छोडकर झूठी भक्ति नही करनी है। दिनभर उद्योग करके अन्तमे शामको और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिन भर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नही होती। वरन् सत्कर्म करके दिन सेवामे बिता करके वह सेवा शामको भगवान्को अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथो अनजाने हुए पापो को भगवान क्षमा करता है। पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसोके पाप ही भगवान् माफ करता है। रोज १५ मिनट ही क्यों न हो, सबको—लडकोको, स्त्रियोको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे अपने आस-

पास भी ऐसी ही मडली मिल गई है। इससे मै अपनेको भाग्यमान मानता हू। अभी मेरे भाईका पत्र आया है। बाबाजी उसके बारेमे लिख रहे है कि आजकल वह रायचदभाईके ग्रन्थ पढ रहे है। उन्हे उस साधुके सिवाय और कुछ नही सूझ रहा है। इधर उसे रोगने घेर रक्खा है, पर उसे उसकी परवा नही है। मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरु मिले। मा भी ऐसी ही थी। ज्ञानदेवने लिखा है कि भगवान कहते है—मै योगियोके हृदयमे न मिलू, सूर्यमे न मिलू और कही भी न मिलू, तो जहा कीर्तन-नाम-घोष चल रहा है वहा तो जरूर ही मिलूगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करनेके बाद ही करनेकी चीज है। नही तो वह ढोग हो जायगा। मुझे इस प्रकारके भक्तिमार्गकी धुन है।

तीसरी एक और बातकी मुझे धुन है, पर सबके काबूकी वह चीज नही हो सकती। वह चीज है **खूब सीखना और खूब सिखाना**। जिसे जो आता है वह उसे दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये, गीता पाठ करावे, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये। पाठशालाकी तालीम पर मुझे विश्वास नही है। पाच-छ घटे बच्चोको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नही होती। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमे एक-आध घटा सिखाना काफी है। काममेसे ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। क्लास इस तरहके होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हे उद्योग सिखाके उसीमे शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मा 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ रही थी। उसे पढना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ रही थी। एक दिन एक भजनके पढनेमे उसने १५ मिनट खर्च किये। मै ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढाकर देखा, पद्रह-बीस मिनटमे ही वह भजन उसे ठीक आ गया उसके बाद रोज मै उसे कुछ देर तक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए।

पर सबसे बन आनेकी बात नही है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है। उन्हे करना चाहिए और इस उद्योग के सिवाय मुझे तो दूसरा सुखका उपाय नहीं दिखाई देता है।[1]

: २ :

ऋषि-तर्पण

मनुष्य देव और पशुके बीचो-बीच खडा है। एक तरहसे वह उनके बीचकी सधि है या उन्हे जोडनेवाली कडी है। यह अनुभव पग-पगपर होता है कि अगर वह चाहे तो पशुसे भी पशु बन सकता है। लेकिन, थोडा ही क्यो न हो, ससारको यह भी अनुभव है कि वह अगर इच्छा करे तो उसके अन्दर देव बननेकी शक्ति भी मौजूद है। 'नरका नारायण' होना असभव नही है। यह बात आजतक अनेक महापुरुष अपनी कृतिसे दुनियाको दिखा चुके है।

आधुनिक समयका इसी तरहका एक उदाहरण लोकमान्य तिलक का है। जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालनकर देव-कोटिमे प्रतिष्ठित होते है, उन्हे वेदोने 'कर्मदेव' की पदवी दी है। यह पदवी तिलकने हम सबके देखते-देखते प्राप्त की है। उस प्रसग का स्मरण तो अब भी ताजा है। पर सिर्फ स्मरण काफी नही है। स्मरणके साथ अनुकरण भी होना चाहिए।

आकाशके अवकाशमे अगणित तारे भरे पडे है। दूरबीनके बिना खाली आखोसे उन सबके दर्शन नही हो सकते। दूरबीनसे भी सबके दरशन तो होते ही नही। लेकिन खाली आखोसे ओझल रहनेवाले कुछ सूक्ष्म तारे उसके द्वारा दर्शन दे देते है। जीवन भी आकाश के समान पोला प्रतीत होता है। लेकिन यह पोला-सा प्रतीत होनेवाला जीवन अनत ठोस सिद्धातोसे भरा हुआ है। केवल बुद्धिके द्वारा उनमेसे बहुत ही थोडे सिद्धात ग्रहण किये

---

१ पवनारमें (२० दिसबर १९३५ को) सायं-प्रार्थनाके बाद दिये गए एक प्रवचनकी रिपोर्ट।

जा सकते है। परन्तु तपस्याकी दूरबीन लगानेसे कुछ सूक्ष्म सिद्धात प्रकट होने लगते हैं। इस तरहका कोई नया तत्व जो देख पाया हो उसे मन्त्र दर्शन हुआ ऐसा कह सकते है। उसीको ऋषि कहते हैं। ऋषि शब्दका मूल अर्थ है 'मत्रद्रष्टा'—मत्र देखनेवाला। यह कथा प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषिने कठिन तपस्याके द्वारा गायत्री मत्र प्राप्त किया। तिलक महाराज भी वर्तमान युगके इसी तरहके एक ऋषि थे। कारण, उन्होने भी तपस्या की; उन्होने भी मन्त्र प्राप्त किया। यह कौन-सा मन्त्र है ? वह है, **"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है; और मैं उसे लेकर रहूंगा।"** इस मन्त्रका उच्चार तो हमने खूब किया है। लेकिन केवल उच्चार काफी नही है। उच्चारके साथ-साथ आचार भी चाहिए।

तिलकने यह भी बतला दिया है कि इस आचारकी नीति क्या हो ? उनके लिए यह अनिवार्य भी था। कारण, उनका यह मत था कि केवल सिद्धातका निरूपण कर देना पर्याप्त नही है। उसके साथ-साथ उसका उपयोग कहा और कैसे किया जाना चाहिए, आदि बाते भी ब्यौरेवार बताना आवश्यक है। इसलिए केवल उक्त मन्त्र बताने से ही उन्हे सतोष नही हुआ। उस मन्त्रका भाष्य भी उन्होने स्वय ही लिखा है। शकराचार्यने कहा है कि भगवान्ने गीताके द्वारा अर्जुनके बहाने सारे जगत्को उपदेश दिया। उसी प्रकार तिलकने अपने 'गीता-रहस्य'मे गीताके निमित्तसे उक्त मत्रकी व्याख्या की है। लेकिन यह बात हमारे ध्यानमे नही आई। इसलिए गीता-रहस्यका गीताके श्लोकोसे सामजस्य करनेका व्यर्थका झझट हमने खडा किया और नाहक उलझनमे पड गये। गीता-रहस्य पूर्वोक्त-स्वराज्य मन्त्रका रहस्य है, इस बातको ध्यानमे रखनेसे हम गीता-रहस्यका अर्थ समझ सकेगे। किंतु केवल समझना ही यथेष्ट नही है। समझनेके साथ-साथ हमारा कर्तव्य क्या है, यह भी दिखाई देना चाहिए।

२

"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध हक है" यह हुआ अधिकार वाला अश। इसीमे 'और मै उसे प्राप्त करूगा' यह कर्तव्यात्मक अश जोड दिया गया है।

आसुरी सपत्ति कहती है, "हककी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।' दैवी सपत्ति कहती है ,"कर्त्तव्य करते रहना मेरा अधिकार है।" पश्चिमकी सस्कृतिको आसुरी सपत्तिकी हविस है। पूर्वकी सस्कृतिको दैवी सपत्तिसे प्रेम है। सस्कृत भाषामे तो 'हक' के अर्थका अलग कोई शब्द ही नही पाया जाता। उस अर्थको व्यक्त करनेके लिए हम 'अधिकार' शब्दका प्रयोग करते है। पर अधिकार् शब्दका मूल अर्थ 'अपने हिस्सेका काम' या कर्तव्य ही है। "तेरा कर्म करनेका अधिकार है, फल प्राप्तिका नही", इस गीता-वचनमे 'अधिकार' शब्दके अर्थके साथ ही दैवी सपत्तिके स्वरूपका भी अच्छा स्पष्टीकरण हो गया है।

उक्त स्वराज्य-मन्त्रकी बनावट—विशेषत उसके पूर्वार्द्धकी—बेशक ठेठ पश्चिमके ढगकी है। लेकिन एक तरहसे यहा स्वभाविक ही था। क्योकि साधारण रूपमे इस मन्त्रका अवतार पश्चिमकी सस्कृतिसे मत्र-मुग्ध लागोके लिए ही है। और जो बात मन्त्रपर घटित होती है वही भाष्य के लिए भी है, यह तो स्पष्ट ही है। इसलिए गीता रहस्यपर पश्चिमके ढगकी गहरी छाप दिखाई देती है। परन्तु शिष्य कितना भी विद्वान् क्यो न हो, गुरुजनोकी अधीनता मे रहनेसे उसकी विद्वत्ता कुछ दब ही जाती है। या यो कहिए कि भडकीले रगकी चीज भी चादके राजमे फीकी पडे बिना नही रहती। उसी प्रकार गीता-रहस्यमे श्रीकृष्णके योग-शास्त्रकी रक्षा करते हुए प्रवचन किया गया है। इसलिए मूलभूत रजोगुणी वृत्ति बहुत ढीली पड गई है। इसलिए मत्रमे पूर्वार्द्धपर जोर दिखाई देते हुए भी भाष्यमे उत्तरार्द्धपर जोर दिया गया है। माना कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध हक है", लेकिन आलसी हकको कौन पूछता है ? इसलिए पूर्वार्द्धमे प्रतिपादन इस सिद्धातकी अपेक्षा उत्तरार्द्धमे निरूपित "मै उसे लेकर रहूगा", यह सकल्प अधिक महत्व रखता है। महत्वके प्रश्न ये है, "स्वराज्य आज क्यो नही है ? और कल कैसे लेना है ?" और तिलक ने गीता रहस्यमे इनके जो जवाब दिये है उनका एक-एक अक्षर सत्य है।

तिलकका कथन सक्षेपमे इस प्रकार है, "यदि स्वराज्य लेना है,

तो ज्ञान और कर्मकी जोडी हरगिज नही टूटनी चाहिए।" आजतक समझदारी और कारगुजारीकी एक-दूसरेसे जान-पहचान भी नही थी। एकका मुह पूरबको था तो दूसरीका पश्चिम को। इसलिए स्वराज्यके दर्शन नही हुए। समझदारी कारगुजारीका स्पर्श गवारा नही कर सकती थी।" "इस अस्पृश्यताके दूर होते ही स्वराज्य आपके पास ही है"—यह कथन कितना यथार्थ है! आज बूढ़ोका अनुभव और जवानोका उत्साह अलग-अलग हो गये हैं। स्त्रियोकी समझदारी और पुरुषोकी कारगुजारी बिछुड़ गई है। ब्राह्मणोका शास्त्र और अब्राह्मणोकी कलाके बीच दरार पड़ गई है। हिदुओकी नीति-निपुणता और मुसलमानो के जोशमें मेल नही रहा। अग्रेजोकी सभ्यता और अग्रेजोकी सेवाका आपसमे लगाव नही है। भिक्षुकके धर्म और गृहस्थके कर्मका मेल नही रहा। कहना न होगा कि अगर हम यह अवस्था सुधार सके—ज्ञान और कर्मका समुच्चय साध सके—तो स्वराज्य हमारे हाथमे है।

पुराने इतिहासमे महाराष्ट्रने स्वराज्यका बडा भारी आदोलन किया था। उस आदोलनके नेताओने भी उसी बातपर जोर दिया था, जिसका प्रतिपादन लोकमान्यने गीतारहस्यमे किया है। **'चित्ती नाम हाती काम'** (मनमे राम, हाथमे काम)—यह था उस आदोलनका सिद्धात वाक्य। गोरोबा (कुम्हार जातिके एक श्रेष्ठ सत) नेताओके गुरु माने जाते थे। इतनी उनके ज्ञानकी ख्याति थी। लेकिन कच्चे घडे पका-पकाकर पक्के बनानेका उनका कारखाना कभी बन्द नही हुआ। सेना नाई भी आदोलनके एक महान् सेनापति थे। तो भी सिरपरका मैल उतारकर दर्पण दिखानेका उनका काम बराबर जारी था। नामदेव (दर्जी) को तो आदोलन का प्राण ही कहना चाहिए। भगवान नामदेवका नाम जितना जपते, उतना भगवान का नाम नामदेव शायद न जपते रहे होगे। लेकिन फिर भी फटे हुए (वस्त्र) सीनेका उनका कुलव्रत अबाधित रूपसे चलता रहा। और ऐसा था, इसीलिए उस वक्त महाराष्ट्रको, कुछ दिनके लिए, स्वराज्यके दर्शन हुए।

जब 'ज्ञानी' कहलानेवाले लोग कर्मसे ऊबने लगते है, या कर्म करनेमें शरमाने लगते है, तब राष्ट्रके पतनका आरभ होता है। यह नियम गिबनने रोमके इतिहासमे लिखकर रखा है, और हमारे यहाके सारे सतो, कवियो और आचार्योने यही बात एक स्वरसे कही है। "जो कर्मको छोटा समझ चलते है, वे गवार है, ज्ञानी नही।" यह वाक्य तो ज्ञानियोके राजा खुद ज्ञानेश्वर कह गये है। और "मै पहलेके सतोसे राह पूछता हुआ बोल रहा हू", यह गवाही उन्होने दी है। तिलक भी वही बात कहना चाहते थे। लेकिन उन्हे कुछ ऐसा मालूम हुआ कि इस सिद्धातके प्रतिपादनमे वह अकेले पड गये है, उनका कोई सहायक नही है। इसी धारणाके कारण उन्होने खीझ-खीझकर बडे आवेशसे अपने मतका प्रतिपादन किया है। इसके लिए जिम्मेवार कौन है?—गुलाम लोगोका बावला ससार और दुर्बल परमार्थ।

३

सच तो यह है कि ज्ञान न तो कर्म से डरता है, न उसे अपनी शान के खिलाफ समझता है। यह नियम सामान्य ज्ञान पर ही नही, ब्रह्मज्ञानपर भी घटित होता है। मनुष्य जितना ज्ञानमे घुल गया हो, उतना ही वह कर्मके रगमे रग जाता है। यह सच है कि ज्ञान उदय होते ही कर्मका झझट अस्त हो जाता है। लेकिन कर्मके झझटके अस्त होनेके माने कर्मका ही अस्त होना नही है। उसका अर्थ है कि कर्म सहज हो जाता है। आइए, हम कुछ ज्ञानियो की ही गवाही ले।

पहली गवाही श्रीकृष्णको ले। वह कहते है, "मनुष्यके चित्तमे ज्ञानका उदय होते ही 'मै' तत्क्षण अस्त हो जाता है। इसीलिए लोगो के लिए सहानुभूति पैदा हो जाती है और साहस तथा उत्साहकी किरणोके फूट पडनेके कारण भय और लज्जाका प्रश्न ही नही रह जाता। ऐसी अवस्थामे ज्ञानी दुगुने जोरसे कर्म करने लगता है। भूतदयाके कारण उसका शरीर लोकसग्रहमे अभ्यस्त हो जाता है।" इस सिलसिले मे उन्होने महाराजा जनकका

पुराना उदाहरण दिया है और अपने अनुभवसे उनकी पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त यह टिप्पणी और जोड दी है कि यदि श्रेष्ठ पुरुष कर्म नही करेंगे तो साधारण लोगोको पदार्थ-पाठ नही मिलेगा।

दूसरी गवाही आचार्य (शंकराचार्य) की। वह कहते है, "ससारके कर्मोंके विषयमे यह कहा गया है कि ज्ञानकी अग्निके सुलगते ही कर्म भस्म हो जाते है। परमार्थके कर्मपर वह लागू नही होता। पारमार्थिक कर्मोंके आचरणसे ही तो मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होता है। यानी परोक्ष रूपसे इस कर्मकी कोखसे ही ज्ञानका जन्म होता है । अत. वह कर्म ज्ञानके लिए माताके समान है। ऐसी दशामे अगर इस कर्मपर भी ज्ञान हथियार उठाये तो उसे मातृ हत्याका पातक लगेगा। इसलिए साधकावस्थामे शुरू किया किया गया 'प्रारब्ध' कर्म ज्ञान हो जानेके पश्चात् भी शेष रह जाता है।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने यह व्यावहारिक दृष्टात दिया है कि मटका तैयार हो जानेपर भी कुम्हारका चाक कुछ देरतक घूमता रहता है।

तीसरी गवाही समर्थकी। वह कहते है, "साधकको ज्ञानका 'रहस्य' प्राप्त हो जाता तो भी वह पूर्ववत् ही यत्न करता रहता है क्योकि इसका क्या ठिकाना है कि इस रहस्यको भी जग न खा जाये? ऐसा सोचकर वह अपने ज्ञानको सत्कर्मसे माजता रहता है। इसलिए उसको जग लगनेका डर नही रहता। खूटेको हिला-हिलाकर खूब मजबूत कर देनेके लिए ज्ञानी सावधान वृत्तिमे अपनी उपासना जारी रखता है और आखीरतक सत्कर्म करता रहता है।"

चौथी गवाही तुकोबाकी। वह कहते है, "कोई आदमी पहिले गावका ज्योतिषी था। हाथीने उसके गलेमे माला पहिना दी। इससे बेचारा राजा हो गया। फिर भी उसका पत्रा (पचाग) नही छूटता था।" ज्ञानी मनुष्यकी हालत भी इस राजाके जैसी होती है। उसकी भी साधकावस्थामे पडी हुई आदत कभी भी कैसे छूटे? अपनी कथनकी पुष्टिके लिए उन्होने अपना ही अनुभव पेश किया है। "मै केवल 'तुका' था। बादमे सतोकी संगतिसे भजनका चस्का लग गया। आज मै 'राम' हो गया हू, लेकिन मेरा भजन

बन्द नही होता। मूल स्वभाव नष्ट नही होता, तो इसे मै क्या करू ?"

४

खैर। बडे-बडे आदमियोके फेर मे पडकर हमने बहुत बडी-बडी बाते की। ये बाते हमारे अधिकारके बाहरकी है। बहुतोकी तो समझमे भी नही आयेगी। लेकिन कोई हर्ज नही। जो आज समझमे नही आती, कल आने लगेगी। सतोकी कृपासे हमारा अधिकार भी धीरे-धीरे बढेगा। और फिर, ऐसी बाते जब-तब कानोमे पडा करे तो कोई नुकसान नही है। हैसियत न होनेपर भी लोग साहूकारसे कर्ज लेकर त्यौहार तो मनाते ही है। उसी प्रकार लोकमान्यकी पुण्यतिथिके दिन हमने भी सतोके चरणोमे भीख मागकर चार टुकडे जुटा लिये तो इसमे कोई गलती नही की। ऐसा न करे तो गरीबोको पकवानके दो कौर भी खानेको कब मिलेगे ? इसके सिवा, हमने ऋण साहूकारसे नही लिया है, सतोसे लिया है। इसलिए हम सुरक्षित है। सत हमे तबाह कर देगे, इसका डर तो है ही नही। अगर सवाल है तो इतना ही कि क्या हम यह पकवान पचा सकेगे ?

'महाराष्ट्र-धर्म' : १६ जुलाई १९२४

: ३ :

निवृत्त-शिक्षण

फ्रासकी राज्यक्रातिके इतिहासमे रूसो और वाल्टेर नामक ग्रन्थकारो के नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थकारोकी भाषा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति तेजस्वी, जीवत और क्रातिकारक है। लोगोमे जितनी धाक इनकी लेखनीकी थी, उतनी बडे-बडे बलवान राजाओके शस्त्रबलकी भी नही थी। फ्रासकी राज्यक्राति इनके लेखकोका मूर्त, परिणाम थी। इन दोनो लेखकोमेसे रूसो विशेष भावनाप्रधान था। लेख लिखने के लिए उसने कभी भाषा-

शास्त्रका अध्ययन नही किया था। उसके विचार उसके हृदयमे समाते नही थे, बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वत के जलते हुए रसकी भाति, बल्कि उससे भी बढकर, दाहक होते थे और उसकी इच्छाके विरुद्ध—'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखो द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटी पर खरे भले हो न उतरे, तो भी परिणामतः वे धधकती आगके समान होते थे, यह इतिहासको भी मानना पडा है। **'मृतजीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'**—उसके लेखोका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतो का मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका सपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इद्रियो का चपल, फुर्तीली, कार्यपटु बनना विभिन्न मनोवृत्तियोका सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोका प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणम होता है। दूसरे शब्दोमें, मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि आत्मविकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितिमे से जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमे जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ विज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग शिक्षणसे होनेवाले आत्मविकासका ज्ञानकी दृष्टिसे बाह्य जगत्मे कैसे उपयोग किया जाय, इस सबधमे दूसरे मनुष्योके प्रयत्नसे जो वाचिक, साप्रदायिक अथवा शालीन (पाठशालामे मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति शिक्षण सज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टिसे व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोडनेवाली सधि है। वस्तुत यह बात कोई विशेष महत्व नही रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये है। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिए,

ऐसा कोई नियम नही है। यह सब सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि-भेदके कारण वर्गीकरणमे अतर होना स्वाभाविक है। रूसोके किये हुए तीन विभाग तो आवश्यक ही है, ऐसी कोई बात नही है। क्योकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण बाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस दृष्टिसे, अगर हम अत शिक्षण और बाह्य शिक्षण ये दो ही विभाग करे तो क्या हर्ज है ?

परतु इससे भी आगे बढकर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य शिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अत -शिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षणका वही एकमात्र यथार्थ अथवा तात्त्विक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योसे अथवा पाठशालामे ही नही मिलता। वह शिक्षण इस अनत विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरतर मिलता ही रहता है। उसमे कभी विराम नही होता। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, "बहते हुए झरनोमे प्रासादिक ग्रथ सचित है, पत्थरोमे दर्शन छिपे हुए है और यच्चयावत् पदार्थोमे शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित है।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियाँ, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढगसे शिक्षा देते है। नैयायिकोके अणुसे लेकर साख्योके महत्तत्त्वतक, भूमिति (रेखागणित) के बिदुसे लेकर भूगोलके सिधुतक, या छुटपनकी भाषामे कहे, तो 'रामजीकी चोटीसे लेकर तुलसीके मूल' तक सारे छोटे-बडे पदार्थ मनुष्यके गुरु है। विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओके दूर-चक्षु (दूरबीन) से, व्यवहार-विशारदोके चर्मचक्षुसे कल्पना-कुशल कवियोके दिव्य-चक्षुसे या तार्किक तत्त्व-वेत्ताओके ज्ञान-चक्षुसे जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होगे—अथवा न भी होते होगे—उन सब पदार्थोसे हमे नित्यपाठ मिल रहे है। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रक्खा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रथ है। उसके सामने वेद व्यर्थ है, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है। लेकिन यह ग्रथ-गगा चाहे कितनी ही गभीर क्यो न हो मनुष्य तो अपने लोटेसे ही उसका पानी लेगा।

इसलिए इस विश्व में से 'बाह्यत.' हमे वही और उतनी ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अदर' होगे। इसका अनुभव हर एकको है। हम इतने विषय सीखते है, इतने ग्रंथ पढते है, इतने विचार सुनते हैं, इतनी चीजें देखते है, उनमेसे कितनी हमे याद रहती है ? साराश, बाह्य जगतसे हम जो कुछ सीखते है, वह सब भुला देते है। उसकी जगह केवल सस्कार बाकी रह जाते है। बल्कि शिक्षणका अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर बचे हुए सस्कार ही है। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे 'अदर' नही है, वह बाहरसे आना असभव है। बाह्य शिक्षण कोई स्वतत्र या तात्त्विक पदार्थ नही है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसगमें हमेशा एक दुहरी समस्या पेश होती है। यदि बाह्य शिक्षणको मिथ्या माने, तो सस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्य-निमित्त या आलबन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य शिक्षणको सत्य या भाव-रूपमे माने, तो ऊपर कहे अनुसार उसका अतर-विकासके अनुकूल अश ही, और वह भी सस्कार-रूपमे, शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमे विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामे इन दोनो शिक्षणोका परस्पर सबध क्या माना जाय ? परतु यह विवाद नया नही है। इसलिये उसका निर्णय भी नया नही है। सभी शास्त्रोमे इस प्रकारके विवाद उपस्थित होते है और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, यह वेदाती विवाद कि 'सुखका बाह्य पदार्थोंसे क्या सबध है, लीजिये। वहा भी वही गुत्थी है। अगर आप कहे कि बाह्य पदार्थोंमे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिये; लेकिन ऐसा होता नही है। यदि मनस्थिति बिगडी हुई हो, तो दूसरे अवसरों पर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नही दे सकते। इसके विपरीत यदि कहे कि बाह्य पदार्थोंमे सुख नही है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नही होता। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, 'दि इच्छा ही घोडा बन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुडसवार हो जाता।"

लेकिन ऐसा हो नही सकता, यह निष्ठुर सत्य है। तब इस समस्याका समाधान कैसे हो ?

इसी तरहका दूसरा दृष्टान्त न्याय-शास्त्रसे लीजिए। प्रश्न यह है कि 'मिट्टीका मटकेसे क्या सबध है' ? अगर आप कहे कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीसे पानी भरकर दिखाइए। मिट्टी अलग और मटका अलग कहे, तो हमारी मिट्टी हमे दे दीजिये, अपना घडा लेते जाइए। ऐसी हालतमे इन दोनोका क्या सम्बन्ध माना जाय ? यदि हम शुद्ध हिंदीमे कहे कि हम बतला नही सकते कि इस सम्बन्ध का क्या स्वरूप है, तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस सबध को 'अनिर्वचनीय सबध' यह भव्य और प्रशस्त सस्कृत नाम दिया गया है।

परतु इस सबधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्षमे जिस प्रकार **'वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** 'मिट्टी तात्त्विक और मटका मिथ्या'—ऐसा तारतम्यसे निश्चय किया जा सकता है उसी प्रकार दूसरे पक्षमे अत -शिक्षण भावरूप और बाह्यशिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षाके दो विभाग किए हैं। उनमेसे अत -शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हर एक व्यक्तिके अदर-ही-अदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नही सकते। उसका कोई पाठचक्रम नही बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय, तो उसपर अमल नही किया जा सकता। बाह्यशिक्षण सामान्यत और व्यक्ति-शिक्षण विशेषत अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामे **'न हि शशक-विषाणा कोऽपि कस्मै ददाति'** इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आदोलन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही है क्या ?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपातत जैसा लाजवाब या मुहतोड मालूम होता है, वस्तुत वैसा नही है। कारण, जब हम यह कहते है कि (बाह्य) शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फक्शन) है, तब हम यह तो नही कहते कि वह 'कार्य' ही नही है। वह कार्य

है, वह उपयोगी कार्य है, परन्तु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमें कहना होता है। निवेदन इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतन्त्र तत्त्व उत्पन्न करना नही है। सुप्त तत्त्वको जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमें समझते है, उस अर्थमें नही है। लेकिन इतनेसे शिक्षण निरुपयोगी नही हो जाता। उग्र सुधारकोके 'विधवा-विवाहोत्तेजन' को समाज-शिक्षक कर्वेका 'विधवा-विवाह-प्रतिबधनिवारण' भले ही निरुपयोगी मालूम होता हो, परतु वास्तवमें वह निरुपयोगी नही है। बल्कि वही उपयोगी है, यह मानना पडेगा। साराश, शिक्षण उत्तेजक दवा नही है, वह प्रतिबध-निवारक उपाय है। रस्किनने शिल्पकलाको भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमेंसे मूर्ति उत्पन्न नही करता। वह तो उसमें है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबध-निवारणके अर्थमें ही क्यो न हो, उसमें थोडी-सी भावात्मकता है ही। इसी अर्थको ध्यानमें रखकर ऊपर 'तारतम्यसे (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया है। शिक्षण आत्मविकासकी तुलनामें अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोडा है।

लेकिन हमने शिक्षा का भाव बेहद बढा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यत अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहाँ किसी लडकेकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा कठ करनेको उत्साहित किया जाता है। लडकेका पिता अधीर हो उठता है। लडकेके दिमागमें कितना ठूस् और कितना नही, इसका उसे कोई विवेक नही रहता। पाठशालाको शिक्षण-पद्धतिमें भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मद हो, तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लडके जैसे-तैसे कॉलेजतक पहुँचते है और फिर पिछड जाते है। और यदि कॉलेजमें न पिछडे, तो आगे चलकरव्यवहार मे निकम्मे साबित होते है। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोडा

तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है, तो उसे छेडना नही चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोडा तेज है न ? लगाओ चाबुक', ऐसी नीतिसे क्या होगा ? घोडा भडक जायगा। खुद तो गड्ढेमे गिरेगा ही अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह बेवकूफीकी और जगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओमे तो हरगिज नही बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहाँ विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहाँ शिक्षणका सारा आनद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लडकोसे जो यह कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेल में व्यायाम होता है, लेकिन 'मै व्यायाम करता हूँ', यह बोध नही होता। खेलते समय आसपासका जगत नष्ट हो जाता है। लडके तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते है। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास, भूख, थकान, चोट, किसी वेदनाकी भी प्रतीति नही होती। साराश, खेल आनद होता है। वह व्यायाम-रूप कर्तव्य नही होता। यही नियम शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है', इस कृत्रिम भावनाके बदले 'शिक्षण आनद है', यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लडकोमे ऐसी भावना पाई जाती है ? 'शिक्षण आनद है' इस भावनाकी बात तो छोड दीजिए, किंतु 'शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण दड है', यह गुलामीकी भावना ही आज विद्यार्थियोमे प्रचलित है। बालकने जरा सजीवताकी चमक या स्वतत्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नही कि तुरत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमे बेडना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ ?—बेडनेकी जगह! इसलिए इस पवित्र कार्यमे हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बडे कर्मचारी है !

लेकिन इसमे दोष किसका है ? शिक्षाके विषयमे हमारे जो विचार है और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभाव का—अवलबन लिया है, उसका यह दोष है। विद्यार्थियोका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हे उसका बोध ही न हो, यानी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामे बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है,

उसी सहजभावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लड़का व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो; लेकिन वह 'मा आया' नही कहता। कारण, वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो; परतु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नही करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते है, साधनके लिए साध्य नही। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथवा एरिस्टाटलका तर्कशास्त्र पढनेका क्या अभिप्राय है ? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सके, अचूक अनुमान कर सके। दीया जब मद होने लगता है, तब छोटा लडका भी अदाज करता है कि शायद उसमे तेल नही है। उसके दिमागमे सारा तर्क होता है। हॉ, इतना अवश्य है कि वह 'पचावयवी वाक्य' या 'सिलाजिज्म' नही बना सकता। विद्यार्थी के भीतर तर्क-शक्ति स्वभावत होती है। शिक्षण का कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समयपर खाद्य मिलता रहे। सारे शास्त्र, सब कलाए, तमाम सद्गुण, मनुष्यमे बीजत स्वयभू है। हम उस बीजको देख नही सकते। लेकिन वह दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका अभाव तो नही है ?

परतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसद नही है। "मनुष्य स्वभावत दुर्बल है, अनीतिमान है, शिक्षणसे उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभावसे वह पशु है, उसे मनुष्य बनाना है। **'पापोऽह पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः'** यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे सपन्न होनेवाला है"—इस आशयकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रथोमे पाये जाते है। इसलिए उसका अमुक ही मत है, यह कहना कठिन है। तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमे उसका विशेष दोष नही है, बल्कि उसके जमाने की परिस्थिति का दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतत्र बुद्धि के लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थितिके गुलाम नही होते,

तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढे जाते है। और फिर रूसो के जमानेके फ्रासकी स्थिति कैसी भीषण थी ! भारतमे आज जिस प्रकार इकतीस करोड जतुओका भय नक दृश्य नजर आ रहा है, उसी तरह की हालत उस वक्तके फ्रास की थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी, ज्वलत और अतिशय उत्कट मनुष्य का भावनामय एव विकारी हृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण हो गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह खीभ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमे मनुष्य-जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमे शिक्षणमे थोडी-बहुत इन्सानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समभ सकते है। लेकिन रूसोके साथ हमे कितनी ही सहानुभूति क्यो न हो, तो भी इस प्रकार का—चाहे किसी ने किसी भी परिस्थितिमे प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमे सदेह नही। मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, ऐसा माननेमे निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादकी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो, तो शिक्षणकी कोई आशा नही हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव सदाके लिए पृथक करना तर्क-दृष्टिसे असभव है। इसलिए यदि मनुष्य-स्वभाव अपने असली रूपमे दुष्ट ही हो, तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न अकारथ जायँगे और निराशावादका तथा उसके साथ-साथ पशुवृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा। क्योकि आशा नष्ट होते ही दडका राज्य स्थापित हो जाता है। कुछ लोग जोशमे आकर कहा करते है कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया। सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है। परतु, यदि यह सच होता, तो किसी भी शातिमय आदोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता। स्वालबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमे सरकारके भरोसे नही रहना चाहिए। लेकिन यदि इसका यह अर्थ हो कि हमे यह निश्चय हो गया है कि अग्रेजोके हृदय नही है, उनकी कभी उन्नति ही नही हो सकती, तब तो नि शस्त्र आदोलन केवल एक लाचारीका चारा हो जाता है। क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य

आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है। जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नही है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्राय सारी आशा ही नष्ट हो जाती हैँ। फिर तो 'छडीपडे छम-छम, विद्या आवे भ्रम-भ्रम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा। इसलिए विद्वान् तत्त्वज्ञो और शिक्षण-वेत्ताओने भी यह शास्त्रीय सिद्धात मान लिया है कि मनुष्यके मनमें पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमे स्वत-सिद्ध है।

यह शास्त्रीय सिद्धात स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है, इस चालके आत्म-सभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते है। हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते है, लडकोके दिलोपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और उस परिणामका तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवाय विजय, अस्माकमेवायं महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते है। यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे कि विद्यार्थीको यह मालूम भी न पडे कि वह शिक्षण लेरहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यहभी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमे ऐसी धुधली और मद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोको शिक्षण दे रहा है। जबतक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक नही होगा, तबतक विद्यार्थियोको सहज-शिक्षण मिलना असभव है। जब कहा जाता है कि 'हम तो फ़्रोबेल, पैस्टलॉजी या मौटेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते है', तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह शव है, इसमे जान नही है। शिक्षण कोई बीजगणितका सूत्र (फॉर्म्यूला) थोडे ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नही है और न शिक्षणदेनेकी पद्धति, पद्धति है। जो अन्दर है वह सहज भावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण—'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है।

परतु किसी विशिष्ट पद्धतिके गुलामोके द्वारा प्राप्त होने वाला व्यवस्थित अज्ञान हमे नही चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है ? 'शास्त्र' बराबर है 'व्यवस्थित अज्ञानके'। इसके सिवा इन शास्त्रोका कोई अर्थ भी है। शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेंसर शिक्षण-शास्त्रपर लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति बनते नही है। ऐसे शास्त्रोकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है ! **'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत'** जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नही कर सकता, वह शास्त्र लोगोकी आँखोमे धूल झोकनेका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाटच-शास्त्रका अध्ययन किया था ? अलकार-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—बना है ? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दोका शब्द-सृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नही होता। यह महज भ्रम है। ***'यास्तेषा स्वैर कथास्ता एव भवंति शास्त्राणि'***—'महापुरुषोकी स्वैर-कथाए ही शास्त्र हे'—भर्तृहरिका यह एक मार्मिक वचन है। यहाँपर भी वही लागू होता है। 'जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है, जिसे कोई भी गुरु दे नही सकता, परतु जो दिया जाता है'—ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टिवाले महात्माओने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नही जानते। 'न विजानीम' (केनोपनिषत्)। शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थ-शून्य है। इनमे सिवा आत्म-वचनाके और कुछ नही धरा है। जीनेकी क्रियामेसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीनेकी क्रियासे भिन्न एक स्वतत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीरमे विजातीय द्रव्य घुसनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा ही जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मकी कसरतके बिना ज्ञानकी भूख नही लगती। और वैसी हालतमे जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमे अदर घुसता है, उसे हजम करने की ताकत पचनेंद्रियोमे नही होती। सिर्फ भेजेमे किताबे ठूस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता, तो पुस्तकालयकी आलमारियाँ ज्ञानी मानी जाती। लालचसे

खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अतमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-सग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोकी दृष्टिसे सारा समाज एक बहुत बडा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किंतु बिना पुत्रके तो सद्गति नही होती, ऐसा सुनते है। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी ?" ऐसी बेहूदी शका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही है। इसलिए लोक-सग्रहका प्रश्न महापुरुषोकी दृष्टिसे बालकोके शिक्षणका ही प्रश्न है। परतु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-सग्रहका भी नाहक हौवा बनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेवारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पडा है। लोक-सग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नही है। लोक-सग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है, खदको उलटा टाँग लेनेके बराबर है। 'कर्ताहम्' 'मै कर्त्ता हूँ', यह अज्ञानका लक्षण है, ज्ञानका नही। यहाँतक कि जहाँ 'कर्त्ताहम्' यह भावना जाग्रत है, वहाँ यथार्थ कर्तृत्व ही नही रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबध—निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-सग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छकराचार्यने **'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणं लोक-संग्रह;'** ऐसा लोक-सग्रहका निवर्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नही देता, उससे शिक्षण मिलता है, सी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-सग्रह करेगा नही, उसके द्वारा लोक-सग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नही है, उससे स्वाभाविकरूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहजकर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुदर सज्ञा दी है। 'निवृत्त-शिक्षण' यह सज्ञा भी उसी ढगपर गढी गई है। जो ऐसा निवृत्त-शिक्षण देते है, वे आचार्य ही समाज के गुरु है। वे ही समाजके पिता है। दूसरे 'भाडेके गुरु'

गुरु नही और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नही है। ऐसे गुरुओके चरणोके निकट बैठकर जिन्होने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्यवान कहलानेके गौरवके पात्र है। अन्य सब अनाथ बालक है। सब अशिक्षित है। ऐसा उदार शिक्षण कितनोके भाग्यमे लिखा होता है?

'महाराष्ट्र धर्म' जनवरी, १९२३

: ४ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्यके अतःकरणकी सूक्ष्म भावनाओकी दृष्टिसे समाज-रचनाका गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियोने अनेक सुदर कल्पनाओका आविष्कार किया है। **'अनंतं वै मन·। अनंता विश्वदेवा:'**—मनको अनत वृत्तियाँ होनेके कारण विश्वमे भी अनत शक्तियाँ उत्पन्न होती है। इन अनत मानसिक वृत्तियो और सामाजिक शक्तियोका सपूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोने धर्मकी रचना की है। स्वय ऋषि ही कहते है—**'ऋषिः पश्यन् अबोधत्'**। योग-शास्त्रमे योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमे ओतप्रोत शक्तियोके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमे सन्निहित वृत्तियोके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुडी रहे। कालके कराल जबडेमे पिसनेवाले दीन जनोके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अतर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानमे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुदी हुई। योगी ऋषियोकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अतर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिए थे। इसीसे हिंदू-धर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओ का भडार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमे बाणोकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिंदूधर्म-रूपी महासागरमे छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नही हो सकते। ऋषियोकी इन मनोहर कल्पनाओमे चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए है। इनमेसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोपर स्थित है प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामे अनादि कालसे सघर्ष चला आ रहा है। वेदोमे जो वृत्र और इद्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र' का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इद्र' सज्ञा परोक्ष सकेतकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके ही लिए खासकर गढी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इद्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढाकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली, इन दो शक्तियोका अर्थ क्रमश जड, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतन, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है। इन दोनोमे सदा सघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस सघर्षमे फसा हुआ है। ये दोनो परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमे काम करते है, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी अभिलाषा होती है, शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनो एक-दूसरेका नाश करनेकी ताकमे है।

मोक्ष कहता है, "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर बैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बडा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेमके स्वागपर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखानेके दात प्रेममय है, पर खानेके दात क्रोधसे भरे हुए। ऊपर-ऊपरसे यह चैतन्यरससे परिपूर्ण बालकोको जन्म देता हुआ दिखाई देता है। लेकिन यह वास्तविक नही है। "यह बूढी महतारी अबतक मरती क्यो नही" इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लडकेको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा, आपके पुरखा, जीवित रहे, तो क्या आप लडके और नाती-पोते पैदा करते ? क्या आपको पता नही कि इतने आदमियोका प्रचड 'लोकसग्रह' या मनुष्यो का ढेर पृथ्वी सभाल नही सकती ? आप इतना भी नही जानते ? "मा तो

मरने ही वाली है, वह हमारे वशकी बात नही," यह कह देनेसे काम नही चलेगा। हम यह नही भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यंभाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (जननाशौच) रखना पडता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करनेका श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रससे ओतप्रोत माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और संहार, काम और क्रोध, एक ही छडीके दो सिरे है। 'काम' कहते ही उसमे 'क्रोध' का अतर्भाव हो जाता है। इसीलिए अहिंसक वृत्तिवाले सत्पुरुष सहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामें भी हाथ नही बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नही। जिस गदे अगरेजसे मलिन होनेमे मा-बाप अपने-आपको धन्य मानते है वह रजोरस इसका पैदा किया हुआ होता है। कारण, इसका अपना जन्म ही रजोगुणकी धूल (रज) से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फेरमे पडेगे तो यह कभी अघायेगा ही नही, इतना बडा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वय क्षत्रिय बनकर पृथ्वीको नि क्षत्र करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असगत है। इसे चाहे जितना भोग लगाइए, सब आगमे घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमे इसे नि सदेह भस्मासुरसे भी बढकर सफलता मिलती है। इसलिए इस कामासुर को वरदान देनेकी गलती न कीजिए।

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही गभीरतासे कहता है—"मोक्षके चक्करमे आओगे तो नाहक अपना काल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो, वेदातकी ही बदौलत हिंदुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हे स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बाते सुनाकर भुलावेमे डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पडकर ऐहिक सुखको जलाजलि देना बुद्धिमानीकी बात नही

है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योकी चर्चा यदि कोई घडीभर मनोविनोदके लिए भोजनके अनतर नीद आनेसे पहले या नीद आनेके लिए करे तो उसकी वह क्रीडा क्षम्य मानी जा सकती है। परतु, यदि कोई खालीपेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा, तो वह याद रक्खे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पैसे) की ही शरण लेनी होगी। चादनी बिलकुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परन्तु उसकी रोटिया नही बनती। और तो कुछ नही; मोक्षकी चिंताकी बदौलत जीवनका आनद खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयो का आस्वाद लेनेके लिए तुम्हे इन्द्रिया दी गई है। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इन्द्रियोको मारनेका उद्योग करते रहेगो तो आत्मवचना करोगे और आखिर तुम्हे पछताना पडेगा। पहले तो जो आखोको साफ-साफ नजर आता है उस ससारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्व के विषयमे बडे-बडे दार्शनिकभी सशक है, वैसी 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है? वेदोने भी कहा है, **'कामस्तदग्रे समवर्तत'**—सृष्टिकी उत्पत्ति काम से हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दर सल ईश्वर जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे, तो जिस सृष्टिको उत्पन्न होनेसे बचानेके लिए यही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करता है उसका पूरा-पूरा विध्वस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष' के माने अगर आत्यतिक सुख हो तो सरल भाषामे उसका अर्थ चिरतन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है कामकी दलील।

सपूर्ण त्याग और सपूर्ण भोग, ये परस्पर-विरोधी दो ध्रुव है। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोको एक-दूसरेकी परवाह नही, दोनो पूरे स्वार्थी है। लेकिन आत्मा और शरीर दोनोका मिलन मनुष्यमे हुआ है। इसलिए इस तरह दोनो पक्षमे अपने ही सगे-सबधी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असभव हो गया उसी तरह कर्मयोगके धर्मक्षेत्रमे अपने स्नेही-सबधियोको दोनो विपक्षो से सलग्न देखकर

मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीरकी सन्धिपर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नही, और शुद्ध जडवाद या कामोपासना रुचती नही। इन दोनो मत्रोमे अद्वैत कायम करना, या उनका सामजस्य करना बडे कौशलका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या 'कौशल' ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको 'मन' और आत्म-प्रवण या ऊपर वाले मनको 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि' मे एकता करके व्यवहार करना चाहिए। '**त्वगाऽधर्म —मायाऽधर्म**' यह गणितकी समता यहां किसी कामकी नही। "घरमे चार रोटिया है और दो लडके है, तो हरेकको कितनी रोटिया दी जाय ?" ऐसी त्रैराशिक की समता अगर माताए सीखने लगे तो बडा अधेर हो जाय। एक लडका दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला अतिसारमे मरेगा और दूसरा भूखमे ऐसे हिसाबी न्यायका अवलबन करके आधा शरीरका सतोष आधा आत्माका सतोष करनेकी कोशिशसे यह मसला हल नही होगा। समताका अर्थ है योग्यताके अनुसार कीमत आकना। गणित शास्त्र मे अनतके आगे चाहे जितनी बडी सान्त सख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनतके मुकाबिलेमे शून्य समझी जाती है उसी तरह शरीरकी योग्यता कितनी ही बढाई जाय, तो भी आत्माकी अनत महिमाके मुकाबिलेमे वह शून्यवत हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिमे शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परन्तु जबतक देह का बधन है तबतक वह शक्य नही प्रतीत होता। पर 'ससार छोड़कर परमार्थ करने से खाने को अन्न भी नही मिलता', यही कथन बहुतेरे लोगोके दिमागमे—या यो कह लीजिए कि पेटमे—तुरत घुस जाता है। '**उदरनिमित्तम**' सारा ढकोसला होनेसे सभी चाहते

हैं कि गुड-खोपडेके नैवेद्यसे ही भगवान् सतुष्ट हो जाय। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान खाने नही थे, इसलिये वह वही धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड-खोपडा यदि भगवान् सचमुच खाने लगें, तो भगवान् को एकादशी व्रत रखानेके लिए यह नई मडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी! ये आत्माको थोडे-से सतुष्ट करना चाहते हैं। कारण कि अगर आत्माको बिलकुल ही सतोष न दिया जाय और केवल देहपूजाके धर्मका ही अनुसरण किया जाय तो उस देहपूजाके समर्थनके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका पारायण करनेपर भी अतरात्माका दश बद नही होता। इसलिए दोनो पक्षोकी दृष्टिमे समझौता वाछनीय है। यह समझौता कराने का भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोडनेपर आमादा हो जाते हैं तब उनका टटा मिटानेके लिए दोनो पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते हैं। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगडा मिटाने के लिये मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए है। अब, ये—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते हैं, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारी के समझौते का स्वाग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अत. उनकी भाषा दोनो पक्षोको थोडी-बहुत खुश करनेवाली होनी चहिये, और होती भी है। परतु यद्यपि इन लोगो को तकरार मिटानेकी बात करनी पडती है तथापि उनके दिलमे यह उत्कट इच्छा नही होती कि दोनो पक्षोमेंसे किसी पर भी मार न पडे। वे लहू-लुहान सिर देखना नही चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हो तो उन्हे कोई परवाह न होती। लेकिन दु खका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डडे पडते ही हैं। इसीलिए झगडा तै करानेकी इतनी उत्सुकता होती है। साराश, धर्म और काम यद्यपि टटा मिटानेके लिए शाति-मत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये हैं, तथापि वास्तवमे धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ

भी सोचता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो ! किसी भी एक पक्षका नाश होनेसे झगडा तो खतम होगा ही ! कई बार जो काम लडाईसे नही होता, वह सुलहसे हो जाता है। योद्धाओकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञोकी कलमको कभी-कभी सफलताका अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष' और 'काम' को अगर योद्धा माने तो 'धर्म' और 'अर्थ' को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनो समझौता चाहते है, लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि सधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हो, और अर्थकी यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हो। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो। यहा इस समझौतेका थोडा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार ये दो सिरे है। धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमे सदेह नही। उस आदर्शके पालनका जोरोसे यत्न करना चाहिए। जब काम बहुत ही भूकने लगे तब धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर, उसके आगे एकाध टुकडा डाल देना चाहिए। परतु वहा भी उद्देश्य तो सयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममे प्रवेश करके उससे छुटकारा पाना चाहिए। ब्रह्मचर्यसे ससार उत्पन्न होगा, यह पापके समर्थनमे दी जानेवाली लचर दलील है। ससारके उत्पन्न होनेकी फिक्र आप न करे। उसके लिए भगवान पर्याप्त है। ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नही होगी, बल्कि मुक्ति होगी। फिर भी सयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमे आपत्ति नही है। इसमे कामका भी थोडा-बहुत काम निकल जायगा। लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊँगा, इसकी चिन्ता और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए। इसमे मोक्षकी भी पूर्व-तैयारी हो जायगी।

अर्थ कहेगा—"अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो ससारकी व्यवस्थाका अत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है न सभव। परतु, ब्रह्मचर्य का नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है। वह अशक्य ही नही, अनिष्ट भी

है। तब, बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेष रहता है। इसमे थोडा-सा सयमका कष्ट जरूर है, लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढापेमे इद्रियां जर्जरित हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी। लेकिन विवाहका बधन अभेद्य माननेका कोई कारण नही है। विवाह हमारे सुखके लिए होते है, हम विवाहके लिए नही है। इसलिए हम विवाहके धर्मका स्वीकार नही करते, लेकिन विवाहकी नीति का स्वीकार कर सकते है।"

मोक्षकी दृष्टिमे अहिसा परम धर्म है। पतजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बधनोसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धात-वाक्य **'ईश्वरोऽहमहं भोगी'** है। इसलिए उसका तो बिना हिसाके निर्वाह ही नही हो सकता, क्योकि साम्राज्यवादकी वृकोदर-वृत्तिकी इमारत हिसाके ही पायेपर रची जा सकती है।

ऐसी स्थितिमे धर्म कहेगा—"कम-से-कम मानसिक हिसा तो किसी हालतमे नही होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके रूप मे कुछ-न-कुछ हिसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नही कि उतनी हिसा करनेका हमें अधिकार है। किंतु उतनी के लिए हम परमेश्वरसे नम्रतापूर्वक क्षमा माँगे और अपनी बुद्धि शुद्ध रक्खे। अगर क्षमा-वृत्ति असभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूँगा', जैसा कोई व्रत लेकर हिसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमे न रख सके, हमारे अतःकरणमे छिपा हुआ पशु अगर जाग ह उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा ले, कम-से-कम अपनेसे कम बलवान् को तो क्षमा करे। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिसा करे, हमला करनेके लिए नही । उसमे भी फिर हिसाके साधन जहाँतक हो सके सीधे-सादे और सुथरे हो। केवल शरीरसे ही द्वद्व-युद्ध करे, हथियार काममे न लावें।

साराश, चाहे धर्ममे हिसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिसामे धर्मका स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ कहेगा—"हिसाके बिना ससारका चलना ही असभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय है। हमे उसे मानना ही पडेगा। लेकिन हिसाकरना भी एक कला है। उस कलामे निपुणता प्राप्त किए बिना किसीको भी हिसा नही करनी चाहिए। मुसलमानोके राजमे जितनी गायोकी हत्या होती थी उससे कई गुनी गाये अग्रेजोके राजमे कत्ल की जाती है, यह बात सरकारी आकडोसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिंसाकी कलाके पडित नही थे इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा, अग्रेजोसे किसीको खास चिढ नही होती। इसका कारण है हिसाकी कला। इन्फ्लुएजाने तीस करोड आदमियोमेसे थोडे ही समयमे साठ लाख आदमियोको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुत मलेरिया उससे अधिक आदमियोका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा-चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बडा साह ठहरा। नये चिकित्सा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। वही नियम हिसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शाति-परिषद् और शाति-परिषद्के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भलीभाँति जारी न किया जा सके तबतक हिसा नही करनी चाहिए। चूनेपर ईटे और ईटोपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शातिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शातिके क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शातिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईटोपर ईटे ही जमाई जाय तो सारी ईटे लुढककर गिर जाती है। इसलिए दो हिसाओके बीच एक अहिसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेमे कोई हर्ज नही।"

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम' यह मोक्षका सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत जहाँ कामोपभोग ही महामत्र है वहाँ अर्थ-सचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही

है। धर्मके मतसे **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**—मनुष्यकी तृप्ति अर्थसंचयसे कदापि नही हो सकती। इसलिए अर्थसग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अश्वत्थ' है। अर्थात् कलके लिए सचय उसके पास नही है। इसलिए मनुष्यको भी 'अश्वत्थ-सग्रह' रखना चाहिए। **'स एवाद्य स उश्वः'**—"वह आज भी है और कल भी है", यह वर्णन ज्ञान सग्रहपर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न कमाये, उसके कारण दूसरेका ज्ञान नही घट सकता। परतु द्रव्य-सग्रह को यह बात नही है। मै अगर पच्चीस दिनके लिए आजही सग्रह करके रखता हूँ तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योका आजका सग्रह चुराने के बराबर है और इतने मनुष्योको कम या अधिक मात्रामे भूखो मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टिमे अधिक सग्रह ही न होनेके कारण इतना सग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गका अवलम्बन करना पडता है। एक बारगी सग्रह करनेमे मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पडता है इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखनेकी चिंताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नही रह सकता। अर्थसग्रहकी एक ही क्रियामे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचो व्रतोका सामुदायिक भग होता है।

इसलिए कम-से-कम, यानी केवल शरीर-निर्वाहके लिए ही, सग्रह करना चाहिए। वह भी— **'अगाना मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा'**— "शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेसे पानी निकालकर"—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेमे पाप लगनेका डर नही होता— **'नाप्नोति किल्विषम्'** यह भगवान् श्रीकृष्णका आश्वासन है। परतु, जैसा कि कालिदासने रघुवशके राजाओका वर्णन करते हुए कहा है, उसमे भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नही, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नही है, किंतु सार्वजनिक है, ईश्वरका है। साराश, सग्रहका परिणाम अश्वत्थ या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम,

हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो, तो इतना भोग धर्मको मजूर है। **'तेन त्यक्तेन भुजीथाः'**।

अर्थ की राय मे—

"ससारमे जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा, जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्वका विस्तार अनत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमे आ पाया है। भौतिक शास्त्रो (विज्ञान) की ज्यो-ज्यो उन्नति होगी त्यो-त्यो हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी सभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी ले, तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना सग्रह कम करना नही है। सबके सामुदायिक सग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ताभी हमारे लिए अभी खुला है। और वही पौरुष का रास्ता है। सृष्टिमे अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमे उसका पूरा ज्ञान नही है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारोकी दिशामे प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए सग्रह करनेमे कोई हर्ज नही है—बल्कि, सग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्यकी जरूरते जितनी बढेगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और सपत्ति बढेगी। इसलिए सग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिलकुल ही एकातिक स्वार्थ ठीक नही होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है इसलिए उसे दूसरोके स्वार्थका भी विचार करना ही पडता है। ससारकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमे थोडा-सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमे नमक मिलाना है, न कि नमकमे 'आटा'। स्वार्थके गालपर परार्थका तिल बना देनेसे शोभा बढ जाती है। लेकिन तिलके बराबर बिदी लगाना एक बात है और सारे गालमे काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धातको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलबनको प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलबनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-सग्राममे जो दुर्बल ठहरेगे

उन्हे मरना ही चाहिए। और दुर्बलोंको मारनेमे अगर हम कारणीभूत हो, तो वह दूषण नही है किंतु भूषण ही है।

"एक दृष्टिसे तो दान करना दूसरोका अपमान करना है। प्याऊ खोलनेमे पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वय धर्म-शास्त्रोने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनेवाला पापका भागी होता है। इसका क्या मतलब है ? क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पिये ? दूसरोको पानी पिलानेसे उन्हे हमारे पापका अश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अशमे घटेगा, इस विचारमे कहा तक उदारता है ? और फिर यह देखिए कि मै लोगोकी चिता करूँ और लोग मेरी चिता करे, इस तरहका द्राविड़ी प्राणायाम करनेके बदले क्या यही श्रेयस्कर नही है कि हर एक अपनी-अपनी फिक्र करे ? शहरोमे फूहड स्त्रिया अपने बच्चोको रास्तेपर शौच कराती है। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-बगलमे गदगी न हो, इसलिए अपने बच्चोको दूसरोके घरोके सामने बैठाती है। और दूसरे भी प्रतियोगी-सहयोगके सिद्धातके अनुसार उसके घरके सामने बैठाते है! इसके बदले सीधे अपने बच्चेको अपने घरके सामने बैठाये तो क्या हर्ज है ? यह परार्थका तत्त्व भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हर एक को स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिता नही करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके लिए या दूरदर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे, तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पडता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।"

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकके दरवाजे माने है। इसलिए मोक्षका मुख्य आक्रमण इन्हीपर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनोके विषयमे, समझौतेकी दृष्टिसे, धर्म और अर्थका क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अबतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहाँ खीचा गया है, वह शायद कुछ लोगोको अतिरंजित मालूम होगा। लेकिन है वह बिलकुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है", मिल्टनके शैतानका

यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नही कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नही है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। यहाँ तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमे रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मवान् पुरुष शायद उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुषार्थो'मे करके हिंदू-धर्मने उसपर शक्यताकी मुहर नही लगाई है। वहाँ भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असभव भी हो।

शास्त्रकारोने तो केवल मनुष्यकी अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओकी तरफ सकेत मात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहाँतक हो सके, उसकी शकल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनोका मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्यकी दो प्रेरणाए कही गई है। मनुष्यको सतोष देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ है। सस्कार-भेदसे किसीको धर्म प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते है—(१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गए है, मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर बिहार किया करते है। माया नदीके प्रवाहमे बहे जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओके गुलाम होते है। ये दोनो तरह के व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे है। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नही कर सकता, क्योकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नही कर सकता, क्योकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नही। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनो स्व-अर्थी ही है। "प्रायेण देव-मुनय स्व-मुक्तिकामा"—

"देव या ऋषि भी प्राय स्वार्थी ही होते है", यह भगवद्भक्त प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकातिक वर्गोंके सिवा सामाजिक कानूनो या नियमोकी मर्यादाओमे रहनेवाले जो लोग होते है उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पडेगा कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नही है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी कदर नही है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित-परायण तो है, परतु जैसा स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नही है। इसलिए जो 'स्व-हित'–रत होता है वह अपने आप ही '**सर्व भूत-हितेरत**' होजाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितेरत' होते हुए भी समाज को प्रिय नही होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हितकी कोई खास परवा नही है। सात्त्विकता का जुल्म भी वह ज्यादा सह नही सकता। यह सच है कि सत जगतके कल्याणके लिए होते है। लेकिन यदि वे जगतके सुखके लिए हो तो समाजको प्रिय होगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि सत समाजको प्रिय है, परन्तु अपने-अपने समयमे तो वे समाजको काटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नही है कि समाज उतना आगे बढ गया है, बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नही है।

अब, कामशास्त्र चूकि बिलकुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाजको दुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'दु ख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है, इसलिए दोनो समाज-बाह्य है। कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्रकी सात्विक, 'पुष्टि' दोनो समाजको एक-सी अपथ्यकर मालूम होती है। किसी-न-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिए तो हजम नही होता और उपवास सहन नही होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक

रोगी है। बेचारा चिकित्सकोंके प्रयोगका विषय हो रहा है! उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनो वर्ज्य ठहरे है, इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनो समाजके लिए मर्यादाएँ कायम करनेवाले शास्त्र है। दोनोको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्रको धर्म-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहाँ मुख्यत धर्मशास्त्रका विकास हुआ, पश्चिममे अर्थशास्त्रका हुआ।

थोडासा समुद्र-मथन करते ही विष निकल आया, परन्तु अमृत हाथ आनेके लिए बहुत परिश्रम करना पडा। उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके जरा-से अध्ययनसे अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए गभीर अध्ययनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहाँ भी अर्थशास्त्र था। वह बिलकुल रहा ही नही ऐसी बात नही है, परन्तु उसकी जहरीली तासीर जानकर समाज-शास्त्रका अधिक मथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। आर्य-सस्कृतिमे अर्थशास्त्रका विकास नही हुआ, इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नही हुआ। पूर्ण विकास हुआ इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ। पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बातका प्रमाण मिल रहा है। "**अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थिति**"—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धान्तका जन्म हुए बिना अर्थशास्त्रका छुटकारा ही नही हो सकता। इस सिद्धातके जन्मके अरमान पाश्चात्य सस्कृतिको गत शताब्दीके उत्तरार्द्धमे होने लगे है।

अर्थशास्त्रके श्रम-विभागके तत्त्वमे अब सभी ऊबने लगे है। गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्'—"मै खाद्य हूँ, मै खाद्य हूँ, मै खाद्य हूँ"—ऐसी उपासना करे और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नाद, अहमन्नाद, अहमन्नाद'—"मै खानेवाला हूँ, मै खानेवाला हूँ, मै खानेवाला हूँ"—यह मत्र जपते रहे, ऐसे नीच श्रम-विभागसे अब दुनिया बिलकुल उकता गई और चिढ गई है। रस्किन-जैसे दार्शनिकोने अर्थशास्त्रके विरुद्ध

जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोकी परपरा अव्याहत चल रही है और उस मोर्चेका अत विजयमे ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे है। 'अर्थशास्त्र' को शकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रक्खा है। उसी नामका, 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे है। इसीलिए अर्थशास्त्रके नये सशोधित सस्करण निकलने लगे है। इन सब लक्षणोसे आशाकी जा सकती है कि पाश्चात्य सस्कृतिकी कोखमे धर्मका अवतार होगा। पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरू हो गई है, इससे कुछ लोगो का यह खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देरमे होनेवाला है। यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतारके आने की प्रारभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन बडा भी हो रहा है, धर्म-प्रधान पौरस्त्य सस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य सस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा नीतिशास्त्रसे बहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाले क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकारकी स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है। कोषका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोका सग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष सदेश नही होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो", इससे अधिक वह कुछ नही कह सकता। इसी तरह नीतिशास्त्रका कोई विशेष प्रमेय नही है। आशा लगाये 'मुझे बरतो, मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भाग मे लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थो मे करने की किसी को नही सूझती।

नीतिशास्त्रका सिद्धात ही यह है कि किसी भी सिद्धातका अत्यधिक आग्रह नही रखना चाहिए। इसलिए इस बिन्दुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'सतोषसे रहो', 'हिल मिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरहकी सदिग्ध सिफारिश करनेसे अधिक नीति-शास्त्र आज कुछ भी नही कर सकता। इसलिए उसके झडेके नीचे

सारा विश्व एकत्र होनेकी सभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्रकी अपेक्षा लोगोको लगोटीसे भी अधिक सतोष होता है। 'मरनेतक जीओगे', इस आशीर्वादमें सत्य है, परन्तु स्फूर्ति नही है। इसलिए इस आशीर्वादमे उतना सतोष देनेकी भी सामर्थ्य नही है, जितना सतोष कि परीक्षितको 'सात दिनमे मरोगे' इस शापसे हुआ होगा। मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है। और मनुष्यताके क्या मानी है? मनुष्यका स्वभाव! सज्ञाके मानो (प्रत्येक पदार्थका) नाम! ऐसे व्यापक शास्त्रसे मनुष्यको सतोष कैसे हो सकता है? सस्कृत न्यायशास्त्रमे ऐसे ही प्रचड प्रमेय होते है। "जिसमे घटत्व है वह घट है", "जिसमे पटत्व है वह पट है", "जिसमे पत्थरपन है वह पत्थर है! और जिसमे यह सब हो वह है न्यायशास्त्र!" ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है। इसलिए धर्ममोक्षकी बात तो जाने दीजिये, अर्थ-कामके बराबरकी स्फूर्ति भी उसमे नही है।

परन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समभौतेका स्वाग क्यो न भरे, फिर भी वे पक्षपाती ही है और नीतिशास्त्र निष्पक्षपात है। निष्पक्षपात वृत्तिके कारण आकर्षण शक्ति कुछ कम भले ही हो, तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए। नित्यके भोजनमे आकर्षण नही होता। रोजकी खूराक होनेसे नीतिशास्त्रमे चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो, परन्तु सारे समाजको देने योग्य उससे बढकर पौष्टिक दूसरी खूराक नही है। धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महगे है। अर्थ-काम सस्ते तो है, मगर उनकी गिनती कुपथ्यमे होती है। इसलिए ससारको आज नीतिशास्त्रके बिना गत्यतर नही है।

ऊपर कहा गया है कि हमारी सस्कृति धर्म-प्रधान है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम धर्म-प्रधान है। हम तो अर्थ-कामके ही दास है। इसलिए यद्यपि हमारी सस्कृतिको नीतिकी परवाह नही, तथापि हमारे लिए नीतिकी उपासना करना नितात आवश्यक है। साराश, क्या हमारी और क्या इतरोकी—सारे ससार ही की—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही

है, ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थोंकी शिक्षा इसी भाषामे दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किन्तु पुरुषार्थके शिक्षणका द्वार है। अगर पुरुषार्थोका भाषातर नीतिकी भाषामे किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परम्परानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममे गाय और बाघ एक ही झरनेपर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है। इसका केवल इकहरा ही अर्थ नही है, प्रत्युत दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी, बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मतलब गाय ऋण भय – शेर ऋण क्रौर्य। इस तरह मेल बैठता है। नही तो शेर को गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कसवालोमे भी है। उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नही है।

नीतिके आश्रममे भी सभी पुरुषोका आग्रही या एकागी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके शीशेमेसे चारो पुरुषार्थोंके रग बिलकुल बदले हुए नजर आयेगे। कामकी सुन्दरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतन्त्रताका एकत्र दर्शन होगा और सपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना होगी। सौदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातन्त्र्य, इन चारो दिशाओको नीतिका आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारो पुरुषार्थ ये नई पोशाके पहना मजूर करे तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्यको सतोष होनेकी सभावना है।

परन्तु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धात न होनेके कारण वह बिलकुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस सतोषकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामे, वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नही है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुशार्थोंके मिलापकी सभावना दिखाई जानेपर भी उनमे समझौता करनेका कतृत्व इस शास्त्रमे नही है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यसे ऋषियोने कर्तृत्वान योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्व

तैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योग-शास्त्रकी शरण लेनी पडेगी । **'अथ योगानुशासनम्'** ।

'महाराष्ट्र धर्म' जनवरी १९२३

: ५ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले हो गया है। यह कोकणस्थोका मूल पुरुष है। मा की ओरसे क्षत्रिय और बापकी तरफसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने माका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते है, 'यह कहा तक उपयुक्त था ?' लेकिन उसकी श्रद्धाको सशकता छूतक नही गई थी। 'निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना', यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोके प्रति दया थी और अन्यायोसे तीव्र म चिढ । उस समयके क्षत्रिय बहुत ही उन्मत्त हो गये थे। वे अपनेको जनताका 'रक्षक' कहते थे, लेकिन व्यवहारमे तो उन्होने कभीका 'र' को 'भ' मे बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षित्रियोका घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आए, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको नि क्षत्रिय बनाकर छोडूगा', यह उसने अपना बिरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाडी रखने लगा। और कुल्हाडीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उडाना ही चाहिए ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोमे जारी की। पृथ्वी नि क्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया। लेकिन पुराने क्षत्रियोको जानबूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोका निर्माण करनेकी प्रक्रियाका फलित भला क्या हो सकता था ? आखिर रामचन्द्रजीने उसकी आखोमे अजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समयके कोकणके घने जगल तोड-तोडकर बस्तिया बसानेके रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया। लेकिन उनके अनुयायियोको कुल्हाडीके हिसक प्रयोगका चस्का पड गया था। इसलिए उन्हे कुल्हाडीका अपेक्षाकृत अहिसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-सबधी त्याग देते है, उसी प्रकार उसके अनुयायियो ने भी उसे छोड दिया।

लेकिन यह शिष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका कारण बननेवाले, आरण्यक प्रजाके आदि सेवक भगवान शकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जगल काटना, झोपडिया बनाना, वन्य पशुओकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव बन्धुओको सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगोमे उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नही रहने पाती। परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोकणके जगलोके वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होने उनका अच्छा साथ दिया। अपने आपको ब्राह्मण कहलाने वाले उसके पुराने अनुयायियोने तो उसका साथ छोडकर शहरोकी पनाह ली थी, मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हे स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारका शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा, "भाइयो, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।"

राम और परशुरामकी पहली भेट धनुर्भग-प्रसग के बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचन्द्रजीसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनोमे उन दोनोकी भेट कभी नही हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोमे रामचन्द्र पचवटीमे आकर रहा था। उसके वहाके निवासके आखिरी वर्षमे बागलाणकी तरफसे परशुराम उससे मिलने आया था। जब वह पचवटीके आश्रम को पहुँचा, उस समय रामचन्द्र पौधोकी पानी दे रहे थे। परशुरामसे मिलकर रामचन्द्रको बडा ही आनद हुआ। उसने उस तपस्वी

और वृद्ध पुरुषका साष्टाग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादिके बाद उसके कार्यक्रम के बारेमे पूछा । परशुरामने कुल्हाडीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचन्द्र को सुनाया । वह सुन रामचन्द्रने उसका बड़ा गौरव किया । दूसरे दिन परशुराम वहासे लौटा ।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोको रामका सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचन्द्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेटमे उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मै तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमे उसने मुझे शब्दो द्वारा कोई भी उपदेश नही दिया। लेकिन उसकी कृतिमेसे मुझे उपदेश मिला है। वही मै अब तुम लोगोको सुनाता हूँ।

"हम लोग जगल काट-काटकर बस्ती बसानेका यह जो कार्य कर रहे है, वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेगे, तो वह एक बडी भारी हिसा होगी। और कोई भी हिसा अपने कर्तापर उलटे बिना नही रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड काटनेका काम खत्म करे। आजतक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया, क्योकि उसीकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमे जीवनोपयोगी वृक्षोके रक्षणका काम भी अपने हाथमे लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हे आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास, आदि छोटे-बडे फलके वृक्षोके सगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वय वनस्पति-सवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पडा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमे कई महत्वपूर्ण शोध भी किये। पेडोको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हे व्यवस्थित काटने-छाटनेकी जरूरत महसूसकर उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखड जारी रखी।

एक बार उसने अपनी समुद्रतटपर नारियलके पेड लगानेका एक सामुदायिक समारोह सपन्न किया । उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहा आये हुए लोगोके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगो और अनुभवोका सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वारमे समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गभीर ध्वनिमे उसने बोलना आरभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमे क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिए । इतना प्रचड शक्तिशाली है यह, परन्तु अपने परम उत्कर्षके समय भी वह अपनी मर्यादाका उल्लघन नही करता । इसलिए उसकी शक्ति हमेशा ज्यो-की-त्यो रही है। मैने अपने सारे उद्योगो और प्रयोगोमेसे यही निष्कर्ष निकाला है । छुटपनमे मैने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की । लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ-हत्यारा है !' मै उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नही था । मै कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है । कौन किसे मारता है ? मै मातृ-हत्यारा नही हूँ, प्रत्युत पितृभक्त हूँ ।'

"लेकिन आज मै अपनी गलती महसूस करता हूँ । मातृवधका आरोप मुझे उस वक्त स्वीकार नही था, और आज भी नही है । लेकिन मेरे ध्यानमे यह बात नही आई थी कि पितृभक्तिका भी मर्यादा होती है । यही मेरा वास्तविक दोष था । लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती । लेकिन उन्होने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमे कोई सहायता नही पहुँची ।"

"बादमे बडा होनेपर अन्यायके प्रतिकारका व्रत लेकर मै जुल्मी सत्तासे इक्कीस बार लडा । हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मै सफल हो गया हू, लेकिन प्रत्येक मर्तबा मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई । रामचन्द्रने मेरी गलती मुझे समझा दी ।

'अन्याय-प्रतीकार मनुष्यका धर्म तो है, लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ ।

"इसके उपरात मै जगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव सेवाके कार्यमे जुट गया, लेकिन आप जानते ही है कि जगल काटनेकी भी-एक हद होती है, इस बातका ज्ञान मुझे ठीक समयपर कैसे हुआ।

"अबतक मै निरतर प्रवृत्तिका ही आचरण करता रहा। पर आखिर प्रवृत्तिकी भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मै निवृत्त होनेकी सोच रहा हूँ। इसके मानी यह नही है कि मै कर्म ही त्याग दूँगा। स्वतन्त्र नई प्रवृत्तिका आरभ अब नही करूगा। प्रवाह-पतित करता रहूगा। प्रसगवश आप पूछेगे तब, सलाह भी देता रहूगा।

"इसीलिए मैने आज जानबूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषत्' चाहे जो कह लीजिए, आपसे निवेदन किया है। फिर-से थोडेमे कहता हू, पितृ-भक्तिकी मर्यादा, प्रतीकारका मर्यादा, मानव सेवाकी मर्यादा—साराश सभी प्रवृत्तियोकी मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ, एक बार सब मिलकर कहे; **ॐ नमो भगवत्वे मर्यादायै।"**

इतना कहकर परशुराम शात हो गया। उसके उपदेशकी यह गभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कदराओमे आज भी गूजती हुई सुनाई देती है।

ग्रामसेवा वृत्तसे · नागपुर जेल, १९४१

: ६ :

चिर-तारुण्यकी साधना

तुम्हारे खेल देखकर आनन्द हुआ। देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोंके हाथमे है। तुमने जो खेल दिखाए वे किसलिए हैं ? शक्ति प्राप्त करने के लिए है, शक्ति किसलिए ? गरीब लोगोकी रक्षाके लिए, इसलिए कि गरीबोके लिए हम उपयोगी हो सके। शरीर घिसाने के लिए तगडा बनाना है। चाकूमे धार किसलिए लगाई जाती है ? इस-

लिए नही कि वह पडा-पडा जग खा जाय, बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीरमे धार लगानी है, उसे फुर्तीला, चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उसे हम चदनके समान घिस सकें। बल सेवाके लिए है।

गीतामे श्रीभगवान्ने कहा है, **'बलं बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।'** (बलवानोमे मै वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूँ।) शब्दोपर खूब ध्यान दो। सिर्फ 'बल' नही कहा। 'वैराग्य-युक्त निष्काम बल'। इस वैराग्य-युक्त निष्काम बलकी ही मूर्ति हम व्यायामशालाओमे रखा करते हैं। वह कौन-सी मूर्ति है? हनूमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान मूर्ति। हनूमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बलके पुतले थे। इसलिए वाल्मीकिने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी महा बलवान था। लेकिन रावणमे वैराग्य नही था। रावणका बल भोगके लिए था, दूसरोको सतानेके लिए था। रावण पहाड उठाता था, वज्र तोड डालता था, दस आदमियोका बल मानो उस अकेलेमे था। इसलिए उसके दस मुह और बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूलमे मिल गया। हनूमानका बल अजरामर हो गया। वाल्मीकिने बलकी ये दो मूर्तिया, ये दो चित्र, उपस्थित किये हैं। रावणके बलमे भोग वासना थी। रावण बलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनूमान बलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ बल अपने और ससारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे बानर बैठे थे। लकामे कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनूमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवत हनूमानके पास जाकर बोला, "हनूमान तुम जाओगे?" हनूमान बोला, "आपका आशीर्वाद हो, तो जाऊगा।"

वह अकेला वानर किस शक्तिके बूते उन बलवान राक्षसोमे निर्भय होकर चला गया? हनूमानने जब यह सवाल पूछा तब उसने क्या जवाब दिया यह कि मै अपने बाहुबलके जोरपर आया हूँ। हनूमान बोला, "मैं

राम के भरोसे यहा आया हूँ। मेरे बाजुओमे जोर है या नही, यह मुझे नही मालूम। परन्तु रामका बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराईमे सोचो, तो बाहुबलका भी क्या अर्थ है ? बाहु-बलके मानी है शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। इसीके लिए यह हाथ है। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् है। पशुके हाथ नही है। भुजाओके बलके प्रयोगमे हम अन्नका निर्माण करे, सेवा करे। हमारी कलाइयोमे यह जो सेवा करनेकी शक्ति है, वह किसकी शक्ति है ? हनूमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है।

जिस बलकी आत्मामे श्रद्धा न हो, राममे श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। अमृतसरमे कत्ले-आम हुआ। उसके बाद लोगोने तेजोभग करनेके इरादेसे, उन्हे शर्मिदा करनेकी मशामे, रास्तेमे पेटके बल चलाया गया। पहाड जैसे पजाबी लोग, ऊंचे-पूरे, तगडे डील-डौलवाले! लेकिन वे भी पेटके बल रेगने लगे! क्योकि राममे उनकी श्रद्धा नही थी। आत्माकी निर्भयता वे जानते नही थे। आज बगालमे यही हाल है। लोगोपर मनमानी पाबन्दिया लगाई जा रही है। रास्तेसे फोज गजर रही हो तो सलाम करने आना पड रहा है। क्या कारण है ? आत्माकी निर्भयता गले नही उतरती। जिसने रामका बल पहचान लिया, वह कलिकालसे भी नही डरा करता। शरीरबल रामके लिए है। वह सेवाके लिए है भोगके लिए नही है।

दूसरी बात यह है भुजाओमे जो बल है वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मश्रद्धापर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलोमे भी आत्मश्रद्धासे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे है कि जिसमे श्रद्धाका बल है, वह दूसरे सौ आदमियोको कपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनूमानमे पशुबल नही था। हनूमानका जो स्तुतिश्लोक है, उसमे दूसरे सारे बलोका वर्णन है, परन्तु शरीर बलका उल्लेख कही नही है।

यथा—

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्,
जितेन्द्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यम्,
श्रीराम-दूतं शरणं प्रपद्ये।।

(मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमानोंमे वरिष्ठ, पवनसुत, वानरोंके सेनापति, रामदूतकी मैं शरण जाता हूं।)

हनूमान मन और पवनके समान वेगवान थे। वह जितेन्द्रिय थे, वह अत्यंत बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातोंका वर्णन है। हनूमान बलका देवता है। लेकिन इस स्तुतिमें बलका जिक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? परन्तु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्यमें वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चटसे आनन्दसे छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ फतह करनेका संदेशा आते ही तानाजी चल पडा। नहीं तो, मनमे सेवाकी मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता, वह आलसमें लोट-पोट हो रहा है। ऐसा शरीर किस कामका? ज्ञानेश्वरने बडा सुन्दर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए? ज्ञानेश्वर कहते है—**'आग मनापुढें घे दौडा'**—शरीर मनके आगे-आगे दौडता है। कोई बात मनमें आनेसे पहले ही शरीर दौडने लग जाता है।

शरीरमें इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेंद्रियत्व चाहिए, इन्द्रियोंपर काबू चाहिए। संयमके बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहां राम कहे, वहां जानेके लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तानके करोडो देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक है। उन्हे तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, सयमी, सेवाके शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैने इस व्यायामशालाके अखाडेमे कुश्तियां देखी। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणमे हुई। मैने उसमे समभाव पाया। अगर हम इसी समभावसे आइदा व्यवहार करेगे तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभावका पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेले, जो कुश्तिया लडे, उनमेसे कल्याण ही होगा।

खेलमे हम समभाव सीखते है। शिस्त, (अनुशासन) व्यवस्थाका महत्व सीखते है। इन खेलोके अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते है। खेतकी जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालिया ऊपर उठती है, एक साथ जमीनमे घुस रही है,--कैसा सुन्दर दृश्य दिखेगा। इस खेलमे आदर्श व्यायाम होगा। उसमे बुद्धिके प्रयोगकी भी गुजाइश है। व्यायाममे बुद्धिको भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतसे व्यायाम भी, कुछ-न-कुछ उत्पादन करने वाला होना चाहिए।

यहाके खेलोसे तुम्हारे अदर शक्ति और प्रेम दोनो पैदा हो। सब तरहके सब जातियोके, लडके एकत्र होते है, एक साथ खेलते है। इससे प्रेमका विकास होता है। ये सस्मरण अगले जीवनमे उपयोगी होते है। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लडे, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया, आदि सस्मरणोसे आगे चलकर तुम एकत्र होगे। सघशक्ति और सहकार्य बढेगा।

तुम गणवेष (वर्दिया) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढाना ही है। परन्तु तुम्हारी पोशाक खादीकी ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे, वे भी मुर्दार चमडेके हो। हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूद-बूदमे ही घडा भरता है। राष्ट्रमे सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये है। सपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा ? अगर तुम्हे दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके—चमडेसे बनी हुई चीजे ही बरतनी चाहिए। रोटीकेलिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोडी सी मदद करेगे, तो वे जीयेगे और हमे रोटी मिलेगी। तुम्हे अगर घरपर रोटी नही मिलती, तो यहा आकर कितनी उछल-कूद करते ? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहा कूदे-फादे। अन्न कूदने-फादनेकी शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—**अन्नं वाव बलाद् भूयः** (अन्न, बल मे श्रेष्ठ है) राष्ट्रमे अगर अन्न न होगा, तो बल कहा से आयेगा ? पहले अन्नका इतजाम करोगे, तब कही अखाडे चलेगे। पहले अन्नका प्रबन्ध होगा तब ज्ञानदान का प्रबध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नही दिया। उसमे उसका मन ही नही लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला, "वहा एक भिखारी बैठा है, मै उमे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नही।" बुद्ध ने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान् बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होने ताड लिया कि वह भिखारी तीन-चार दिनोसे भूखा है। उन्होने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारकने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नही दिया।" भगवान् बुद्धने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमे अन्न ही नही है। रामदासके जमानेमे अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिन्दुस्तानकी सपत्तिका सोता सूखा नही था। इसलिए उन्होने प्राणका, बलका, उपासनाका, उपदेश दिया। आज देहातोमे सिर्फ अखाडे खोल देनेसे काम नही चलेगा।

जब राष्ट्रमे अन्नकी उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्रका सवर्धन होगा। बलवान तरुणोको राष्ट्रमे अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे तब बनाओगे। परन्तु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नही—जानवरके चमडेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमे हाथ बटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीबोके पेट मत मारो। तुम गरीबोके सरक्षणके लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेगे तभी तो उनका रक्षण करोगे न ? तुम खाकी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेगे। फिर सरक्षण किसका करोगे ? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मॉगोगे देहातियोसे ? वे तुम्हे कहासे देगे, भैया ? इसलिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेष (वर्दिया) खादीके है, तुम्हारी सस्थामे हरिजन भी आते है, ये बाते बडी अच्छी है। लेकिन मुसलमानोको मुमानियत क्यो ? हिन्दू-मुसलमानोको एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हे यहा लानेकी कोशिश करो। तुम हिन्दू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवा-पानी, अन्न प्रकाशपर पल रहे हो। अगर हिन्दू यहाके है तो मुसलमान बाहरके कैसे ? और अगर मुसलमान बाहरके है, तो हिन्दू भी बाहरके है। लोकमान्य कहते है कि हिन्दू लोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये। हिन्दू अगर पाच-दस हजार साल पहले आये, तो मुसलमान हजार साल पहले आये। परन्तु आजकी भाषामे तो यहीके कहे जायगे। दोनो भारतमाताके ही लाल है।

सब धर्मोके विषयमे उदार भावना रखो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा, लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नही करेगा। हरएक अपनी माके दूध-पर पलता है। धर्म-माताके समान है। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मै मातृपूजक हूँ, इसलिए मै दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नही करूँगा। उलटे, उस माताका भी वदन करूगा।

दिलमे यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। चित्तमे यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अदर उपासना—दोनो चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलोके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्माको सौपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार भली-भाति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो, उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रक्खो। खेलनेकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर याने मन, निर्मल रहेगा। अतर बाह्य शुचि बनो, जैसा यह हनूमान है—बलवान् और भक्तिवान, सेवाके लिए निरतर तत्पर। तुम उम्रसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा, तो तुम बूढे ही हो। जिसके शरीरमे वेग है, वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनूमान कभी बूढे नही हो सकते। वह चिर-तरुण है। चिरजीव है।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्रसे वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रखो। बुद्धि साबित रक्खो। मै ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी ओर उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमे जुट जाये।[1]

सर्वोदय · नवबर १९४१

---

१. 'धूलिया (खानदेश) की 'विजय व्यायामशाला' में दिए गये प्रवचनका मुख्य अंश।

. ७ .

गृत्समद

१

यह एक मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिले के कलब गाँवका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। **'गणानांत्वा गणपति हवामहे'** (हम आपका जो कि समूहोके अधिपति है, आवाहन करते है) यह सुप्रसिद्ध मन्त्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मडलोमेसे द्वितीय मडल समूचा इसीका है। इस मडलमे तैतालीस सूक्त है और मन्त्र सख्या चार सौ के ऊपर है। ऋग्वेद जगतका अतिप्राचीन और पहला ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ अश प्राचीनतर है। इस प्राचीनतर अशमे द्वितीय मडलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुँचे है कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मडल सूक्तसख्या और मत्रसख्या के लिहाजसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवे हिस्सेके बराबर होगा।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही। लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृषि-सशोधक और मजा हुआ बुनकर भी था। जीवनके छोटे-बडे किसी भी अगकी उपेक्षा वह सहन नही कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था, **"प्राये प्राये जिगीवासः स्याम"**—"हमे हरएक व्यवहारमे विजयी होना चाहिए।" और उसके ज्वलन्त उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले लोगोमे उत्साहका जाग्रत वातावरण बना रहता था।

गृत्समदके जमानेमे नर्मदासे गोदावरीतकका सारा भूप्रदेश जगलोसे भरा हुआ था। पाच-पच्चीस मीलोके अतरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन बनमे बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र बडी बस्ती थी। इस बस्तीने ससारका, कपासकी खेतीका, सबसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार कपासका भडार

बन गया है। गृत्समदके कालमे बरारमे आजकी अपेक्षा बारिशका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमे लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गौतिपियम्' हो सकता है?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यत स्त्रियोके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते है और स्त्रिया कुकडी भरने, माडी लगाने आदिमे उनकी मदद करती है। किन्तु वैदिक काल मे बुनकरोका एक स्वतन्त्र वर्ग नही बना था। खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था। उस युगकी ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रिया घरका काम काज सम्हालकर बुनती थी। 'साझको सूर्य जब अपनी किरणे समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती है'—**'पुनः समव्यत् विततं वयंती'**—इन शब्दोमे गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-काव्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपडा कैसे बनाया जाय'? यह महान प्रश्न खडा हुआ? ऊन कातनेकी जो लकडी की तकली होती थी, उसीपर सबने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकला, लेकिन बिलकुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नही था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी प्रक्रियाओका सागोपाग अभ्यास किया। सारा सूत दोष सपन्न पाया। लेकिन उसमेसे जो थोडा पक्का था, उससे उसने 'ततु' बनाया। 'ततु' के माने वैदिक भाषामे धागा है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन माडी लगानेमे कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होनेके कारण टूटे हुए कितने तारोको जोडना पडा इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके माडी

लगानेमे टूटे हुए तारोकी सख्या चार अकोकी (हजारकी) थी। बादमे तागा करघेपर चढाया गया। हत्थेकी पहली चोटके साथ चार-पाच तार टूटे। उन्हे जोडकर फिरसे ठोका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही हफ्तोके बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला। लेकिन फिर भी शुरूके बारह वर्षोंमे बुनाईका काम बडा ही कष्टकर हो गया था। गृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे। वह इतना उत्साही और ततु-ब्रह्म ओतु-ब्रह्म ठोक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्मकी ब्रह्ममय वृत्तिमे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगातार टूटने लगते थे तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरसे प्रार्थना की थी, **'देवा, मा ततुश्छेदि वयतः'**—बुनते वक्त ततु टूटने न दे। लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरन्त ही पछताया था। इसलिए उस प्रार्थनामे 'धिय मे' याने 'मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे सवार लिया। "जब मै अपना ध्यान बुनता होऊ, तो उसका ततु टूटने न दे"—ऐसा उस सशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थनामेसे सुशोभित अर्थ निकला। उसका भावार्थ इस प्रकार है। —"मै जो खादी बुना करता हू यह मेरी दृष्टिसे केवल एक बाह्य क्रिया नही है। यह तो मेरी उपासना है। वह ध्यानयोग है। बीच-बीचमे धागोके टूटने रहनेसे मेरा ध्यान-योग भग होने लगता है, इसका मुझे दु ख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थनाका विषय नही हो सकती। उसके लिए सूतमे उन्नति करनी चाहिए। और वह कर लगा। लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा तबतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी अन्तवृत्तिका, मेरे ध्यानका, धागा न टूटे।

गृत्समद अखण्ड अन्तर्मुख वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। **'माहं अन्यकृतेव भोजम्'**—मै दूसरोके परिश्रमोमे भोग कदापि प्राप्त न करूँ।'—यही उसका जीवन-सूत्र था। वह लोक-सेवा-परायण

था। इसलिए उसके योग क्षेमकी चिन्ता लोग किया करते थे। लेकिन वह अपने मनमें सदा यही चिंतन किया करता था कि 'लोगोसे मैं जितना पाता हूँ, क्या उसे शतगुणित करके उन्हे लौटाता हूँ ? और उसमे भी क्या नवीन उत्पादनका कोई अंश होता है ?'

इसी चिंतनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ बनानेकी दृष्टिसे वह फुरसतके समय उसमे आविष्कार करता रहता था। उसके समयमे षड्विधयोंमेसे लोग सिर्फ जोडना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया, उस दिन उसके आनन्दका पारावार ही नही रहा। उसने दोसे लेकर नौ तकके नौ पहाडे बनाये और फिर तो वह बासो उछलने लगा। पहाडे रटनेवाले लडकोको कही इस बातका पता लग जाय तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नही रहेगे। लेकिन गृत्समदने आनन्दके आवेशमें आकर इन्द्रदेवका आवाहन पहाडोसे ही करना शुरू किया—"हे इन्द्र ! तू दो घोडोके और आठ घोडोके और दस घोडोके रथमे बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दो के पहाडे के बदले दसके पहाडेसे काम ले। दस घोडोके, बीस घोडोके, और तीस घोडोके और चालीस घोडोके और सौ घोडोके रथमे बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकोने उसके इस महान् आविष्कार का लेखा किया है कि चन्द्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रोमें भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चंद्रमामे मातृवृत्ति रम गई है। और कलावान् तो वह है ही। इसलिए सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोको पचाकर और उन्हे भावनामय सौम्य रूप देकर माताके हृदयमे रहनेवाले कोमल गर्भतक उस जीवनामृतको पहुँचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चन्द्र कर सकता है और वह उसे निरन्तर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है। आधुनिक विज्ञानने अबतक इस विषयपर विशेष प्रकाश नही डाला है। परावृत्त-किरण-विज्ञान, प्राण-विज्ञान और मनोविज्ञान,

इन तीनोंका यहाँ मिलाप होनेके कारण प्रश्न कुछ पेचीदा और सूक्ष्म है, इसमें शक नही। लेकिन गृत्समदका सिद्धात साधारण अविज्ञ मनको भी भाने लायक तो है। बालकका सौम्य रूप यदि 'सोमकृत्' हो, तो क्या आश्चर्य है ? जब हम सूर्यवशी राम को भी 'रामचन्द्र' कहते हैं, तब चन्द्रकी उपमा सूचित करते है न ? कवियोने चन्द्रामृत पीनेवाले एक चकोरपक्षीकी कल्पना कर ली है। वह चकोरपक्षी अगर माताके उदरमे रहनेवाला गर्भ साबित हो, तो भी कवि तो हरगिज नाराज नही होगे। अपने-अपने अल्प प्रकाशसे टिमटिमानेवाले तारे भी अपनी जगह छोडकर चन्द्रसे मिलने कभी नही जायगे। परन्तु चन्द्र विनम्र होकर प्रत्येक नक्षत्रसे भेट करने उसके घर जाता है। इतना बडा प्रेम-मूर्ति अगर गर्भस्थ बालककी चिन्ता नही करेगा तो और कौन करेगा ? चन्द्रकी कलाओकी पूर्णता पूर्णिमाको ही होती है। पूर्णिमाको उद्देश्य करके गृत्समद कहता है, 'हे पूर्णिमे, गर्भके टाके तू खूब मजबूत सुईसे लगा और शतगुणित प्रदान करने वाला पराक्रमशील, प्रशसनीय सेवक उत्पन्न कर—**'ददातु वीरं शतदायं उक्थ्यम्'**

ग्रामसेवा-वृत्तसे : सर्वोदय, सितम्बर, १९४१

८

ग्रामलक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बडा है। इसमे सात लाख देहात है। हमारे देशमे शहर बहुत थोडे है। अगर औसत निकाला जाय, तो दसमेसे एक आदमी शहर मे रहता है और नौ देहातमे रहते है। पैतीस करोड लोगोमेसे, ज्यादा-से-ज्यादा, चार करोड शहरोमे रहते है। इकतीस करोड देहातम रहते है। लेकिन इन इकतीस करोडका ध्यान शहरोकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नही था। देहात मुहताज होकर शहरोका मुह नही ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर हो गये है। आजतक एक ही ईश्वर था।

किसान आकाश की तरफ देखता था। पानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ देखना पडता है। इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते है। आस्मान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओको—एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका—किसानको पूजना पडता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नही आयेंगे। गांधी कहते है ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रक्खो और इस दूसरे देवताको छोडा। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी, याने शहरिये भगवानकी, भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मै तुम लोगोको बतलाता हूँ। हमारे गाँवोकी सारी लक्ष्मी यहाँसे उठकर शहरोमे चली जाती है। अपने पीहरसे चल बसती है। इस ग्रामलक्ष्मीके पैर गाँवमे नही ठहरते। वह शहरकी तरफ दौडती है। पहाडपर पानी भरपूर बरसता है, लेकिन वह वहाँ कब ठहरता है, वह चारो तरफ भाग निकलता है। पहाड बेचारा कोरा-का-कोरा, नग-धडग, गजा-बूचा, खडा-का खडा, रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारो दिशाओमे भाग खडी होती है। शहरोकी तरफ बेतहाशा दौडती है। अगर हम उसे रोक सके तो हमारे गाँव सुखी होगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौन-से रास्तोसे भागती है, सो देखो। उन रास्तोको बन्द कर दो, तब वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-व्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पाँचवाँ व्यसन। इन पाँचो रास्तोको बन्द करना शुरू करे।

सबसे पहले व्याह-शादीकी बात लीजिए। तुम लोग व्याह-शादीमे कोई कम पैसा खर्च नही करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लडकी बडी हो जाती है, अपने ससुरालमे जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके ऋणसे उसके माँ-बाप मुक्त नही होते। यह रास्ता कैसे मूदा जाय, सो बताता हूँ। तुम कहोगे, 'खर्चमे कतरब्योत करो। भोज न दो, समारोह की क्या जरूरत है?'—वगैरा वगैरा। यह ठीक नही। समारोह खूब करो।

ठाठबाठमे कमी नही होनी चाहिए। लेकिन मै अपनी पद्धतिसे कम खर्चमे पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हे देता हूँ।

लडके-लडकीकी शादी माँ-बाप ठीक करे। लेकिन वहाँ उनका काम खत्म हो जाना चाहिए—शादी करना, समारोह करना, यह सारा काम गाँव का होगा। माँ-बाप शादीमे एक पाई भी खर्च नही करेगे। जो करेगे उनको जुर्माना होगा ऐसा कायदा गाँववालोको बना लेना चाहिए।

मान लीजिए मेरे यहाँ शादी है। गाँवके हरेक आदमीको दो-दो, चार-चार आने—जो कुछ तय हुआ हो—मेरे पास लाकर देने चाहिए। मानो सबने मिलकर मुझे वह भेट दी। उसमसे मै सारे गाँव का नेवता कर सकूगा। बगैर पैसा इकट्ठा किए और बगैर कर्ज किये शादी हो जायगी। गाँवमे हरसाल बीस पच्चीस या पचास शादियाँ होती होगी। तो मुझे दो आनेके हिसाबसे, पचास दूने सौ आने, याने मोटे तौरपर छ रुपये देने पडेगे। हरएक जातिकी शादियाँ की जायँ, तो इससे भी कम खर्च लगेगा। मेरे यहाँ दस सालमे शादीका मौका आया। मुझे हरसाल दो-तीन रुपयेके हिसाबसे दस वर्षोमे तीस रुपये देने पडे, अब मेरे यहाँ शादीका मौका आया। मुझे कोई खर्च नही आयगा। मुझे लोग भेट देगे। सब गाँववाले जमा होगे। बडा भारी समारोह होगा। और खर्च कितना आयगा ? दस वर्षोमे तीस रुपये मैने दिये है, वही। याने मेरे यहाँ की शादी तीस रुपयेमे हो गई और उसमे सारा गाँव, सारी जाति शामिल हुई। सभी भोजमे सम्मिलित हुए। लडके-लडकीको कितनी खुशी होगी ? दुलहे-दुलहिनको सबके आशीर्वाद मिलेगे। सबके आशीर्वाद पानेसे और बडी खुश किस्मती कौन-सी हो सकती है ? शादीमे लोगोको क्यो बुलाया जाता है ? इसीलिए कि सबकी सदिच्छा, सबके आशीर्वाद मिले। इन लडके-लडकीकी गिरस्तीके लिए सब अपनी शुभ-कामनाएँ और आशा व्यक्त करे। लडके सिर्फ माँ-बापके ही नही होते। वे सारे समाजके होते है। लडके कोई अच्छा काम करेगे, तो सारे गाँवका भला होगा, बुरा काम करेगे तो सारे गाँवकी बुराई होगी।

अगर कोई अपने पैसेसे शादी करे, तो वह पाप मानो। गाँववाले उसे

अपना अपमान समझे। लड़के जितने अपने माँ-बापके है, उतने ही समाजके भी है। माँ-बापके मर जानेपर क्या वे घूरपर फेक दिये जाते है ? गाँव उन्हे सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेसे जाकर देखिए। प्रयोग कीजिए। साहूकारका ऋण कम होता है या नही, देखिए। आपका कर्ज घटेगा। झगडे कम होगे। सहयोग और आत्मीयता बढेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का सारा बेच देते हो। फिर बुवाईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो कपास यहाँ पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपडा खरीद लाते हो। गन्ना यहाँ पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गाँवमें मूगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहाँसे अनाज भेजकर रोटियाँ बबईसे मगाओ। तुम्हे तो बैल भी बहारसे लाने पडते है। इस तरह सारी चीजे बाहरसे लाओगे तो कैसे पार पाओगे ?

बाजारमे क्यो जाना पडता है ? जिन चीजोकी जरूरत होती है, उन्हें भरसक गाँवमे ही बनानेका निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य, अपने गाँवका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गाँवमें क्या-क्या बना सकते हो। देखो, तुम्हे कौन-कौन-सी चीजे चाहिए। तुम्हारी खेतीके लिए बढिया बैल चाहिए। उन्हे मोल कहाँतक लोगे ? तुम्हे बढिया बैल यही गाँवमे पैदा करने चाहिए। गायोका अच्छी तरह पालन करो। एक दो बढिया सॉड उनमे रक्खो। बाकीके सबको बधिया करो। इससे गायोकी नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेगे। बैलोके लिए बागडोर, नथनी वगैरा चाहिए। गाँवमे सन, पटुआ वगैरा से यही बना लो। तुम्हे कपडेकी जरूरत है, उसे भी यही बनाना चाहिए। गाँवमे बुनकर न हो तो दो लडकोको सिखा लाओ। हरएकको अपने घरमे कातना चाहिए। उतना समय जरूर मिल जायगा। मूगफली गाँवमे हो होती है। यही घानी शुरू करो, तो यही ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गाँवमे होता है। उसका गुड बनाओ। शक्करकी बिल्कुल जरूरत नही है। गुड गरम होता है, लेकिन पानीमे मिलानेसे ठढा

हो जाता है। गुडमें स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य है। गुड बनाओ। खोई जलानेके काम आयगी। गाँवके चमारसे ही जूते बनवाओ। इस तरह गाँवमे ही सारी चीजे बननी चाहिए। पुराने जमानेमे हमारे गाँव ऐसे स्वावलम्बी थे। उन्हे सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गावका ही अनाज, गावका ही कपडा, गावका ही गुड, गावका ही तेल, गावके ही जूते, गावके ही डोर, गावके ही बैल, गावका ही घरका पिसा आटा—इस रवैयेको अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गाँव कैसे लहलहाते है ? तुम कहोगे यह महगा पडेगा। यह केवल कल्पना है। मै एक उदाहरणसे समझाता हू। मान लो, तुम्हारे गावमे एक रगरेज है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। आज चमार क्या करता है। वह कहता है 'मै तेलीसे तेल नही लूगा; वह महगा पडता है। तेली क्या कहता है ? 'गावके चमारका बनाया हुआ जूता महगा है। मै शहरमे जूता खरीदूगा'। बुनकर कहता है—'मै गावका सूत नही लूगा। पुतलीघरका अच्छा होता है'। किसान कहता है—'मै बुनकर का कपडा नही लूगा। मिलका लूगा। वह सस्ता होता है'। इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धधा शुरू किया है। एक-दूसरेको निबाह लेना धर्म है। उसे छोडकर हम एक-दूसरेको मटियामेट कर रहे है।

लेकिन जरा मजा देखिए। तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महगा जूता खरीदता है। उसके जेबसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आते है। अर्थात् वह महगा नही पडता। जहाँ पारस्परिक व्यवहार होता है वहाँ 'महगा' जैसा कोई शब्द ही नही है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते है। मै उसकी महगी चीज खरीदता हूँ, वह मेरी महगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमे क्या बिगडता है ? जुलाहेने खादी बनाई और तेली ने वह खरीद ली। तेलीके लिए खादी महगी है, जुलाहेके लिए तेल महगा है। बात एक ही है। तेलमे जो पैसे गये वे खादीमे वापस मिले और खादीमे गये सो तेलमे मिल गए। 'इस हाथ देना

उस हाथ लेना' इस तरहका भाईचारेका, सहयोगका व्यवहार पहले होता था। लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहातमें प्रेम होता है, भाईचारा होता है। देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोंका ख्याल नही करेंगे तो वह देहात ही नही है। वह तो शहर के जैसा हो जायगा। शहरमें कोई किसीको नही पूछता। सभी अपने-अपने मतलबके लिए वहाँ इकट्ठे होते है, जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकडो कीडे जमा होते है। उस सड़नेवाले गोबरमें सैकडो कीडे कुलबुलाते है। वे कीडे वहाँ क्यो इकट्ठे हुए? किसी कीडेसे पूछो, 'यहाँ क्यों आया? तेरे कोई भाई-बहन यहाँ है'? वह कीडा कहेगा, 'मै गोबर खानेके लिए यहाँ आया हू और गोबर खानेमे चूर हूं। मुझे ज्यादा बोलनेकी फुरसत नही है।' कलाकन्द, गुड आदिपर मक्खियाँ बैठती है, सो क्या प्रेमके कारण? उसी तरह शहरोमे मक्खियोके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते है, चीटियोकी नाई जिनका ताँता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए? शहरमें स्वार्थ और लोभ है। गाँव प्रेमसे बनता है। गावमें आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोडकर दौड आयेंगे। घरमें कोई बैठा थोडे ही रहेगा? लेकिन बम्बईमे क्या दशा होगी? सब कोई कहेंगे 'पानीका बम्बा जायगा, मुझे अपना काम है।' इसीलिए एक कवि ने कहा है—'गाँवोको ईश्वर बनाता है और शहरोको मनुष्य।'

हमारे बाप-दादा गाँवोमे रहते थे। आज तो हर कोई शहरमे जाता है। वहाँ क्या धरा है? पीले पत्थर है और धूल है। यथार्थ लक्ष्मी देहातमे है। पेडोमे फल लगते है। खेतोमें गेहूँ होता है, गन्ना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहाँसे सस्ती चीजे लाते हो। लेकिन सभी ऐसा करने लगे, तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातोको सुखी देखना है, तो शहरके बाजारको छोडो। गावकी चीजें खरीदो। जो चीज गावमें बन ही न सकती हो वह अलबत्ते बाहरसे लाओ। बाहरसे लानेमें भी, अगर वह दूसरे गावमें होती हो, तो वहाँसे लाओ। मान लो यहाँ चूडियाँ नही होती, तो सोनगीरसे

लाओ। यहाँ अच्छे लोढे नही बनते, तो सोनगीरसे लो। यहाँ रगरेज न हो, तो मालपुरसे रगाकर मगाओ। मालपुरका रंगरेज तुम्हारे यहाँसे गुड लेकर जायगा, तुम उसके यहाँसे कपड़े रगवाओ। तुम्हारे गावमें जो चीजें न बनती हो, उनके लिए दूसरे गाव खोजो। शहरमे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमे बनी है ?—हाथकी बनी हुई है ? पहले उन चीजोको पसद करो। जहाँतक हो सके, यन्त्रोसे बना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो।

तुम्हारी ग्राम-पचायतोको यह काम अपने जिम्मे लेने चाहिए। गावके झगडे-टटे करनेका काम तो पचायतोका है ही। लेकिन गावसे कौन-कौन सी चीजे बाहर जाती है, कौन-कौन-सी बाहरसे आती है, इसका ध्यान भी पचायतको रखना चाहिए। नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। बादमे, वे चीजे बाहरसे क्यो आती है, इसकी जाच-पड़ताल करके उन्हे गावमें ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए। बुनकर नही है ? दूसरे गावको दो लडके सीखनेके लिए भेज देगे। हरएकको यह सकल्प कर लेना चाहिए कि गावकी ही चीज खरीदूगा। जो चीज मेरे गावमें न बनती हो, उसे वही बनवानेकी कोशिश करूगा। गावके नेताओको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। 'कैसे होगा ? क्या होगा ?'—न कहो। उठो, काम शुरू कर दो; चट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजों के दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव बेचे, चमार जूता कितनेमे बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो ?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक दूसरेकी चीजें खरीदने लगेगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महगा' ये शब्द ही नही रहेगे।

बतलाओ, तुम्हारे यहाँ क्या-क्या नही हो सकता ? एक नमक नही हो सकता। ठीक, नमक लाओ बाजारसे। दो, मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेलकी जरूरत नही होनी चाहिए। परन्तु उसके बिना काम ही न चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज, मसाले। मिर्च तो यहाँ होती ही हैं। दरअसल तो मिर्च भी बन्द कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नहीं है। दियासलाई खरीदनी पड़ेगी। कुछ औजार खरीदने पड़ेगे। दूसरा कोई

चारा नही है। ये चीजें खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले अडीका तेल काममें लाओ।

परन्तु इनके सिवा बाकी सारी चीजे गावमें ही बनाओ। खादी गावमे बननी चाहिए। खादीके कपडेके लिए सूतके बटन भी यही बन सकते है। उन दूसरे बटनोकी क्या जरूरत है? अगर छातीपर वे बटन न हो तो क्या प्राण छटपटायेगे? ऐसी बात तो नही है। तो फिर उन्हे फेक दो। इस कठीकी क्या जरूरत है? उसके बिना चल नही सकता? ऐसी अनावश्यक चीजे गावमें लाओगे तो ये कठिया पैरोकी जजीरकी तरह जकडेगी या फासीकी रस्सीकी तरह गला घोट देंगी। बाहरसे ऐसी कठिया लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था? वह क्या बाहरसे कठिया लाता था? वृन्दावनमे मोरोके जो पख गिर जाते थे, उन्हीसे वह अपना शरीर सजाता था। पख उखाडकर नही लाता था। वह मोरके पखसे सजता था। सो क्या सिडी हो गया था? क्या पागल हो गया था? 'मेरे गावके मोर है, उनके पखोसे मै अपने शरीरको सजाऊ तो कोई हर्ज नही है। इसमे उन मोरोकी भी पूजा है'—ऐसी भावनासे वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमें क्या पहनता था? वनमाला। मेरी यमुनाके तीरके फूल—वे सबको मिलते है। गरीबोको मिलते है, अमीरोंको मिलते है। वह स्वदेशी वनमाला, देहातकी वनमाला, गलेमे पहनता था। और बजाता क्या था? मुरली। देहातके बासकी बासुरी—वह अलगोजा। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहा का एक प्रसग सुनाते थे। "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फ्रासीसी, जर्मन, अग्रेज, जापानी, रूसी, सब एक साथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फ्रासीसियोने वायोलिन बजाया, अग्रेजोने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया, 'तुम हिन्दुस्तानी वाद्य सुनाओ'। मै चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौनसा है?' मै उन्हे बता नही सका।"

मैंने तुरन्त अपने उस मित्रसे कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बासुरी है। लाखो गावोमे वह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण-भगवानने उसे पुनीत किया है। एक बासकी नली ले ली, उसमे छेद बना लिये, बस वाद्य तैयार हो गया।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था? बाहरकी चीनी लाकर खाता था? वह अपने गोकुलकी मक्खन, मलाई खाता था। दूसरोको खाना सिखाता था। ग्वालिनें गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुराको ले जाती थी। परन्तु गावकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नही जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बाट देता था। सारे गोकुलके बालक उसने हृष्ट पुष्ट किये। जिन्होने गोकुलपर चढाई की, उनके दात उसने अपने मित्रोंकी मददसे खट्टे किये। गोकुलमे रहकर भी वह क्या करता था? गाये चराता था। उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया? देहातोको जलानेवाले लडाई-झगडोका खातमा किया। सब लडकोको इकट्ठा किया। प्रेम बढाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है। वह तुम्हारे गावका आदर्श है। गोपालकृष्णने गावोका वैभव बढाया, गावोकी सेवा की, गावोपर प्रेम किया, गावोके पशु-पक्षी, गावकी नदी, गावका गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया। गाव ही उसका देवता रहा। आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुलमे आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबरमे हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बसी बजाते थे, लडकोके साथ, गोपबालोके साथ, खेलते थे। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होने गोकुलमे असीम आनन्द और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख असीम था। ऐसे गोकुल के अन्नके चार कणोंके लिए देवता तरसते थे। प्रेममस्त गोपालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल'-कलेवा खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्गमें वह प्रेम था क्या? उन देवताओंको

पैसेकी कमी नही थी। लेकिन उनके पास प्रेम नही था। हमारे शहर आपके स्वर्ग है न ? अरे भाई, वहा प्रेम नही है। वहा भोग है, पैसे है परन्तु आनन्द नही है। अपने गावोको गोकुलके समान बनाओ। तब वे शहरके नगरसेठ तुम्हारे गावकी नमक रोटीके लिए लालायित होकर दौडते आयेंगे। हमे देहातोको हराभरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलबी, आरोग्य-सपन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चू-चर्र बोल रहा है, कुएपर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गाये चरा रहा है, और बशी बजा रहा है—ऐसा गाव बनने दो। अपनी गलतीसे हमने गावोको मरघट बनाया। आइए अब फिर उसको गोकुल बनाये।

कागज एरडोलका खरीदो। दतमजन राखका बनाओ। ब्रश दतौनके बनाओ। विदेशी कागजकी झडिया और पताकाए हमे नही चाहिए। अपने गावके पेडोके पल्लव—ग्राम-पल्लव लो। उनके तोरण और बदनवार बनाओ। गावके पेडोका अपमान क्यो करते हो ? बाहरसे चीजे लाकर बदनवार लगाओगे तो गावके दरख्त रूठेगे। वे समारोहमे हाथ बटाना चाहते है। उनके कोपल लाओ। हमारे धार्मिक मगल उत्सवोके लिए क्या कागजके तोरण विहित है। आमके शुभ पल्लव चाहिए और घडा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टिनपॉटका होगा ? वह पवित्र कलश मिट्टीका ही चाहिए। तुम्हारे गावके कुम्हार का बनाया हुआ चाहिए। देखो हमारे पूर्वजोने गावके चीजोकी कैसी महिमा बढाई है। उस दृष्टिको अपनाओ। सारा नूर पलट जायगा। जिधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनद दिखाई देने लगेगे।

हमने ब्याह-शादीकी बातका विचार किया। बाजारके सवालका विचार किया। अब, पहले व्यसनोकी बात लेता हूँ। अपने वशकी बाते पहले ले लें। बादमें सरकार और साहूकारकी बात सोच लेगे।

कोई दिन भर फू-फू बीडी फूकते रहते है। कहते है, 'बीडियां तो घरकी ही है। वे बाहरसे नही आती।' अरे भाई, जहर अगर घरका हो तो क्या

खा लोगे ? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे ? जहर चाहे घरका हो या बाहर का, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोडना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराबके बारेमे कहोगे तो पहले मह राष्ट्रमे शराब नही थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमे वह कहता है--"पेशवोके राजमे शराबसे आमदनी नही थी। लेकिन आज तो गाव-गाव मे पियक्कड है सरकार उलटे उन्हे सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीये ? हिंदुस्तानमे दो मुख्य धर्म है--हिंदू-धर्म और इस्लाम। इन दोनो धर्मोमें शराब पीना महान पाप माना गया है। इस्लाममे शराब हराम है। हिंदू-धर्ममें शराबकी गिनती पच महापातकोमे होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते है ? प्राणोका, कुटुम्बका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका---सभी चीजोका नाश होता है।

बीडी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात-बातमें तकरार करना। कृष्णने झगडोके दावानल निगल लिये। तकरार मत करो, और अगर झगड़ा हो ही जाय तो गावके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। अदालतकी शरण न लो। अदालते तुम्हारे गावोमे ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजे गावकी ही हो, उसी प्रकार न्याय भी गावका ही हो। तुम्हारे खेतोमे सब कुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गावमे न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा ? गावका धान्य, गावका वस्त्र और गाव का ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी, अदालते किस काम की ? चीजोके लिए जिस तरह हम परावलम्बी न होगे, उसी तरह न्याय के लिए भी नही होगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोडा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गावमे ही रहेगा, लेकिन दूर चला जानेपर, न हमे मिलेगा, न तुम्हें मिलेगा, सारा भाड़मे जायगा। गावमे ही पचोमे परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा दीगर बातोकी ऊहापोह यहा नही करता। जीवन

निर्मल और विचारमय बनाओ । हरएक काम विवेक-विचारसे करो ।

चौथी बात साहूकारकी है । तुम ही अपने घर कपास लोढकर बीजके लायक बिनौले सभालकर रख लोगे, घरमे ही कपडा बना लोगे, मूगफली, अलसी घरमे रखकर गावके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमें जाना बन्द कर दोगे, गावहीमे सारे झगडे तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढगसे ब्याह-शादिया करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पडेगी । लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नही पायेंगे । कर्जदार फिर भी रहेंगे । लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी ।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नही होगा । स्वराज्यमे सबके हिसाब जाचे जायेंगे । जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका ऐसा घोषित किया जायगा । जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला होगा, सूदके रूपमे भी न मिला हो, उससे समझौता करेंगे । इसी तरहके उपायसे वह सवाल हल करना होगा । तटस्थ पच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा, किया जायगा । तबतक आजके बतलाये उपायोमे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए । परन्तु कर्ज चुकानेके फेरमे बाल-बच्चोकी उपेक्षा न करो । बच्चोको दूध-घी दो । भरपूर भोजन दो । लडके सारे समाजके हे । मै अपने साहूकारसे कहूँगा, "मै अपने बच्चोको थोडा दूध दू ? उन्हे दूधकी जरूरत है ।" बच्चे जितने मेरे हे, उतने ही साहूकारके भी है । वे सारे देशके है । लडकोको देनेमे तुम साहूकारको ही देते हो । इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोको खिलाओ, । घरकी हाजते पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो । कर्ज तो देना ही है । खा-पीकर देना है । भोग-विलासके बाद नही । 'कुछ बचा तो ला दूगा'— साहूकारसे कह दो ।

इस तरह चार बाते बतलाई । गावकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हे बन्द करनेके उपायोकी दिशा भी बताई । अब

पांचवी बात सरकार है । यह सरकार कैसे बन्द की जाय? तुम अपनी चीजे बनाने लगो, अपने गावमे बनाने लगो, तो सरकार अपने आप सीधी हो जायगी । सरकार यहा क्यो रहती है ? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफोके हाथ बिक सकता है, इसलिए । कल बुद्धिमान बनकर अगर अपने गाव स्वावलबी बनाओगे, तो सरकार अपने आप नरम हो जायगी । जिस चीजकी जरूरत हो उसे गावमे ही बनाओ । जो इस गावमे न बन सके उसे दूसरे गावसे लाओ । शहरके कारखानोका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोकी तो बात ही कौन पूछता है ? विदेशी और स्वदेशी कारखानोको तुम अपने गावसे जो खाद्य पहुँचाते हो, उसे बद करो। आपसमे एकता करो। लडना-झगडना छोड दो। अगर लडो भी तो गावमे ही फैसला कर लो। कचहरी-अदालतका मुह न देखनेका सकल्प करो। गावकी ही चीजे, गावका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो एक पथ दो काज होगे। दरिद्रताका कष्ट दूर होगा और सरकार अन्तर्धान हो जायगी । तुम इस तरह स्वावलबी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिलमिलकर रहनेवाले बनो, तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नही सकती । तुम्हारी इतनी ताकत बढने पर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमे जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजारका टुटपूजिया सत्याग्रह न होगा । उसमे तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होगे।

तुम लगानके रूपमे दस हजार रुपया देते हो। लेकिन कपडोके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब, मानलो कि यह सरकार यहासे जल्दी नही टलती। उसका लगान कम नही होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा । फिर भी अगर कपडा गावमें ही बनानेका सकल्प कर ले, तो क्या होगा ? हरएकको तीन सेर रूईकी जरूरत होगी। हर कुटुबमे अगर पाच आदमी हो, तो पन्द्रह सेर रुई हुई। बोनेके लिए जितने बिनौलोकी जरूरत हो, उतनी बढिया कपास खेतसे बीनकर घरपर ही लोढो। बढिया बिनौले मिलेगे। जो रुई होगी उसमेंसे

अपने परिवारके कपडोके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकीकी बेच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रूईके दाम सवा रुपया होगे। बत्तीससौ आदमियोको चार-पाचहजार की रुई रखनी होगी। कपडा पच्चीस हजारका होगा। उसमेसे पाच हजार घटा दीजिए, तो बीस हजार गावमें रहेगे। सरकार लगानके दस हजार ले जायगी। लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसलिए गाधी कहते है कि खादी ही स्वराज्य है। अकेले खादीकी बदौलत बीस हजार रुपये गावमे रह गए। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा? लगान आधा याने दस हजारका पांच हजार, हो जायगा। याने तुम्हारे पाच हजार रुपये बचेगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमे है यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नही हुआ था। सीलिए हमे रोटियोके लाले नही पडे। परन्तु इस राज्यमे यह खादीका स्वराज्य, देहाती उद्योग-धधोका स्वराज्य, नष्ट हो गया है। इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। इंग्लैण्डका मुख्य आधार कर या किसान नही है, बल्कि करोडो रुपयेका व्यापार है। लगानके रूपमे उसे दस हजार ही मिलेगे। लेकिन तुम्हे कपडा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, घासलेट वगैरा सैकडों ऐसी ही चीजें है। इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेंगे, सो देखा जायगा। परन्तु तबतक मेरे बतलाये उपायोसे अपने गाव स्वावलबी, उद्यमी, प्रेममय बनाओ। इसीमे सब कुछ है[1]।

महाराष्ट्र धर्मसे : सर्वोदय, दिसंबर, १९४१

---

१. कसारा (खानदेश) में दिया गया एक भाषण।

: ९ :

आत्माकी भाषा

मै पहले-पहल मद्रास आया हूँ। मुझे इस वक्त यहा आने का ख्याल भी नही था। आप लोग जानते है कि मै जेल-यात्री हूँ। तीसरी बार मैं जेल हो आया हूँ और सरकारके हिसाबसे मैं पक्का कैदी बन गया हूँ। फिर भी ये क्रिसमसके दिन है और क्रिसमसके दिनोमे सत्याग्रह स्थगित रखनेकी हमारी नीति है। लडनेवाले सबके सब यूरोपियन राष्ट्र ईसाई है। जापान अभी लडाईमे उतरा है। उसे छोडकर बाकीके सब राष्ट्र ईसाई होनेपर भी क्रिसमसके दिनोमे लडाई बन्द नही रखते। अहिंसा धर्मको माननेवाले इसका खयालकर कम-से-कम क्रिसमसके दिनोमे सत्याग्रह स्थगित करते है। फिलहाल वर्किंग कमेटी विचार कर रही है, इस बीच मुझे आपके सामने आनेका मौका मिल गया है अन्यथा, मै शातिसे नागपुर-जेलमे होता।

प्यारे भाइयो, आपको देखकर मुझे अत्यत आनन्द हुआ है, खासकर विद्यार्थियोके सामने होनेपर मेरा हृदय समुद्रकी तरह उमडता है। इसका कारण यह है कि मै अभीतक विद्यार्थी रहा हूँ, आगे भी ऐसा ही बना रहनेकी उम्मीद है।

आपसे एक बातके लिए मुझे क्षमा माँगनी चाहिए। पदवी-दान समारभके अवसरपर पहले लिखकर लाने और अवसरपर उसे दुहरा देनेका एक रिवाज-सा हो गया है। मै ऐसा नही कर सका। मै निर्गुण भक्तिसे सगुण भक्तिकी ओर कुछ विशेष ध्यान रखता हूँ। उसकी ओर मेरा विशेष आकर्षण है। मैने सत्यनारायणजीसे कहा कि विद्यार्थियोके चेहरे देखने अर्थात् सगुण और साकार दर्शनके बाद ही मुझे कुछ बोलना सूझेगा, पहले नही। इसलिए वह रिवाज तोडकर बोल रहा हूँ। जिस काममे हम पडे है वह महान् कार्य है। उसकी महत्ता क्या है, उस विषयमे हमे क्या करना है, इसकी कुछ रूप-रेखा मै आप लोगोके सामने रखने वाला हूँ। मै दक्षिण

भारतमें एक विशेष भक्तिभाव लेकर आया हूँ, यानी दक्षिणवासियोंके प्रति मेरे मनमें पूज्य भाव है। मैंने भागवतमें पढा है कि जब पृथ्वीके अन्य स्थानोंसे मानवता और भक्तिका लोप हो जायगा, तब भी द्राविडमें वह मानवता और भक्ति कायम रहेगी। मुझे भविष्यवाणी करना नही आता। अगर मैं भविष्यवाणी करना चाहूँ तो मैं कहूँगा कि दुनियामें दिन-ब-दिन भक्ति बढ़ेगी। यद्यपि फिलहाल चलनेवाले युद्धसे बात उल्टी दिखाई दे रही है।

हम जानते हैं कि दुनियाका पहला ग्रन्थ ऋग्वेद है। इसके पहलेका कोई लिखित ग्रन्थ हमको अबतक नही मिला। इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक बहुत प्राचीन प्रामाणिक वस्तुके रूपमें है। मैं देख रहा हूँ कि हिंदुस्तानकी एकता का खयाल ऋग्वेदमें भी मौजूद है। ऋग्वेदका एक मन्त्र कहता है कि इस देशमें दो तरफसे—दो बाजुओंसे दो हवाएं बह रही हैं। एक समुद्रकी तरफसे आती है दूसरी पर्वतकी तरफसे। जिस समुद्रकी तरफसे हवा आती है उसको हम हिंद महासागर कहते हैं। मैं देख रहा हूँ कि हिमालयकी गहन गुफाओंसे एक हवा आती है और दूसरी सिंधुसे बहती है। इस खयालसे हिंदुस्तान समुद्रसे लेकर हिमालयतक एक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम जो स्वासोच्छवास लेते हैं उसकी उपमा वे ऋषि दे रहे हैं। वे कहते हैं कि प्राणायाम करने वाले योगी अन्दर एक हवा लेते हैं और बाहर दूसरी हवा छोडते हैं। जैसे योगीके अन्दरकी गुफा और बाहरका अंतरिक्ष दो भाग हैं वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है। भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है। हिमालयसे वायु छोडती है और समुद्रसे लेती है। अब जो अर्थ निकला उससे यह साफ है कि हिन्दुस्तानकी एकता अभीकी नही है बल्कि हजारों वर्ष पहलेकी है। रामायणमें एक स्थानपर वाल्मीकिने श्री रामचन्द्रजीको समुद्रके समान गंभीर और पर्वतके समान स्थिर कहा है। उन्होंने रामचन्द्रजीको एक राष्ट्र-पुरुषके रूपमें चित्रित किया है। हजारों बरस पहले ही जब पारस्परिक संबंध के कुछ साधन नही थे तभी हमारे पूर्वजोंने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक राष्ट्र मानना इस जमानेके लिए कोई नई बात नही है।

आजके यूरोपके युद्ध जैसे अनेक युद्धोका प्रयोग यहा हो चुका है और हिंदुस्तानके लोगोने उससे सीखा भी है। मै उम्मीद करता हूँ, यूरोपवाले भी इस युद्धके बाद देखेगे कि यूरोपको एक राष्ट्र मानना अच्छा है। हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था ? हमारी सस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा सस्कृत थी। अब सस्कृतके अनेक अग बन गए और अलग-अलग भाषाए बन गईं। अलग-अलग सूबोमे अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयताका खयाल करते थे वह सस्कृतमे बोलते और लिखते थे। आप देखेगे कि केरलमे पैदा हुए शकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार सस्कृत द्वारा किया, जब मालाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतका प्रचार करनेके लिए उन्हे हिन्दुस्तान भरमे घूमनेकी क्या जरूरत थी। अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहा उनका जन्म हुआ था वही पर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी जरूरत क्या पडी ? एक और बात यह है कि वह हिदुस्तान के बाहर नही गये। इस तरह आप समझेगे कि उन्होने एक राष्ट्रीयताका खयाल करके अपने अद्वैत का प्रचार सिधुसे लेकर परावर्ततक किया। लेकिन उनमे भी एक मर्यादा थी। उन्होने आम लोगोकी भाषा छोडकर सिर्फ सस्कृतमे ग्रन्थ लिखे। उनके बादके सतोको लाचार होकर आम लोगोकी भाषामे लिखना पडा। और सस्कृतको छोडना पडा। अलग-अलग भाषामे अलग-अलग ग्रन्थ लिखे जाने लगे। अलग-अलग भाषा हो जानेके कारण प्रातीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा हुआ कि अग्रेजोने लश्करके दो विभाग किये —दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणकी भाषा नही समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नही समझते। अगर दक्षिणमे बलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहा पर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक बात नही बता रहा हूँ। १८५७ के बलवेको मै भारतीय स्वातन्त्र्यका संग्राम मानता हूँ। उसको दबानेके लिए मद्राससे सेना भेजी गई

थी। यद्यपि भारत हजारो सालसे एकत्र रहा फिर भी बादको भाषाका सबध टूट गया और अग्रेजोने इसका फायदा उठाया। गाधीजीने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते है और अपने प्राचीनतम राष्ट्रोको (जो हिमालयसे सिन्धुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते है तो एक राष्ट्रभाषाकी सख्त जरूरत है। अब सस्कृत राष्ट्रभाषा नही हो सकती। इसलिए अभी हिन्दुस्तानमे जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा। इसलिए गाधीजीने हिन्दी भाषाको सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करे। अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिन्दुस्तानमें काग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमे आपसके व्यवहारके लिए अग्रेजी काममे लाई गई। इस तरह हमारे पढे-लिखे आदमी अग्रेजी भाषाका उपकार मानते थे और शुरू-शुरू मे अग्रेजीसे काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझाकि सबके लिए अग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिन्दुस्तानकी राष्ट्रभाषा नही हो सकती। यह बात सिर्फ गाधीजीको सूझी।

जैसे हिन्दीमे तुलसी रामायण लिखी गई है, वैसे ही तामिलमे या बगलामे क्या सौ वरसके अदर ऐसा कोई उत्तम ग्रन्थ लिखा गया है जो गाव-गावमे फैला हो ? प्राचीन जमानेमे ऐसा कोई साधन नही था जैसा हमारे यहा अब है। जैसे प्रिटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यो नही हुआ ? मै तामिल नही जानता। लेकिन मेरे भाइयोने बताया है कि ऐसा कोई ग्रथ नही जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुतसे प्रकाशक मुझसे मिल चुके है। और मै उनसे पूछ आया हूँ कि आप प्रकाशक है या अप्रकाशक ? पुराने जमानेमे जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे है कि प्रिटिग-प्रेससे हमारा काम बन गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमे मुझे जब तुलसी-रामायण कहनेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोको (जो प्रारभिक शिक्षा पाते है) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमे सयुताक्षर नहीं होते। नागरी और बगलामे सयुक्ताक्षरका प्रचार है।

इसलिए वहा जो बिना सयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, वह कुछ कृत्रिमसा बन जाता है । लेकिन तुलसी-रामायणमे ५० सैकडे शब्द ऐसे मिलेगे जिनमे एक भी सयुक्ताक्षर नही है। यह तुलसीदासकी विशेषता है। उत्तर भारतमे श, ष, स का उच्चारण एक ही तरह किया जाता है। लिखेगे अलग-अलग पर, उच्चारण करेगे एक ही ढगसे । तुलसीदास सस्कृतके प्रकाड विद्वान् थे, परन्तु वह लोगोको उठानेके लिए स्वय झुके, जैसे माता झुककर अपने बच्चेको उठा लेती है। पर आजकलके हमारे पब्लिशर लोग क्या करते है ?

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं । आप देखेगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामे अतर पड रहा है। हमारे ग्रन्थ आम जनतातक नही पहुँच सकते। सतोने देखा कि हमको देहाती भाषामे बोलना और लिखना चाहिए । गाधीजीने देखा कि जबतक अग्रेजी भाषामे सोचते रहेगे, तबतक हम गुलाम ही रहेगे। मै मानता हूँ कि अग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अग्रेजी भाषा और हमारी भाषामे बडा फर्क है। हम लोग कहते है 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नही है। पर अग्रेजीमे आत्मरक्षा है 'सेल्फ-डिफेस'। हरेक भाषामे उसका अपना-अपना स्वतन्त्र-भाव रहता है। जबतक हम अग्रेजीद्वारा ही सोचते रहेगे, तबतक हममे स्वतन्त्रभाव पैदा नही होगा; यह गाधीजीने देखा। लोग समझते है कि अग्रेजीसे ही हमे ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारेमे जानकारी प्राप्त करनी हो तो अग्रेजी पुस्तक पढना पर्याप्त समझते है । अग्रेजी-नेत्र द्वारा ही सभी बातोको देखते है और खुद अधे बनते है । अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नही पाया है। अग्रेजी किताबो द्वारा ही ज्ञान-सपादन करते आये है। अग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थ-हीन हो गये है। यहा ऐसा मैने सुना कि दो श्रेणी पढनेके बाद बच्चोको अग्रेजी पढाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने सात बरसकी पढाईमे अग्रेजीको बिलकुल स्थान नही दिया है । क्योकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते है और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढाना चाहते है। अग्रेजी भाषा-

द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक अनपढ किसानका दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नही होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामे सीखता है। यह सब गाधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम दस करोड लोग तो अपनी भाषा को अच्छी तरह सीख पायेगे, हिन्दीको राष्ट्र भाषाका रूप दिया। २३ सालोमे, मैंने सुना है कि दक्षिणमे करीब १२ लाख लोग हिन्दी सीख चुके है।

आजकल हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का झगडा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिन्दीको चाहते है, हिन्दुस्तानीको या उर्दूको ? तो मै उनसे पूछता हू कि आप 'माता' को चाहते है या 'मा' को ? मुझे हिन्दुस्तानी और उर्दू मे फर्क नही मालूम होता। दाढी बनानेमे और उसकी हजामत करनेमे जितना फर्क है उतना ही हिदी और उर्दू मे है —बढी दाढी उर्दू है, सफाचट हिंदी। क्योकि हम देखते है कि दाढी १५ मिनटमे बढती है। अग्रेजीमे मिलटन और वर्डस्वर्थकी भाषामे जितना फर्क है उतना ही फर्क हिन्दी और उर्दू मे है। दो-चार उर्दू शब्दो या सस्कृत शब्दोसे भाषा कभी नही बदलती। मै मद्रासमे अब जो भाषा बोल रहा हू उसमे सस्कृत शब्दोका प्रयोग कर रहा हू। अगर मै पजाब गया तो उर्दू शब्दोका, जो मै जानता हू इस्तेमाल करूगा। अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप हिन्दी, हिदुस्तानी और उर्दू मे कुछ भी फर्क न करे। उनमे फर्क नही है। हिदी और उर्दू मे जो बैलेस लाया गया है वह है हिदुस्तानी। आपको मालूम है, गाधीजी 'बैलेस्ड डायट' के हिमायती है और उन्होने इसको हिदुस्तानी नाम दिया है। आप इन झगडोमे मत पडिये। जिस झगडेमे कोई अर्थ नही उस झगडेमें पड़नेसे फायदा ही क्या ?

और एक बात मुझे कहनी है। आप जिस कार्यमे लगे है वह युद्ध-विरोधी कार्य है। आज जो युद्ध चल रहा है वह दुनियामे केवल द्वेष बढ़ाने वाला है। हिदीका प्रचार प्रेमका प्रचार है। इसलिए मै इसको युद्ध-विरोधी प्रचार

मानता हू। अगर कोई हिंदुस्तानी बच्चेसे पूछे कि तुम्हारे कितने भाई हैं तो उसको कहना चाहिए—"हम चालीस करोड है।" आजकल हममे प्रांतीय झगडा भी है। एक प्रातकी सीमापर दो तरहके लोग रहते है और वे झगडते है कि अमुक स्थान हमारा है। अगर कोई मुझसे यहा पूछे कि डेनजिंग कहा है तो मै कहूगा कि डेनजिग वही पर है जहा वह खड़ा है। हिंदुस्तानमे अनेक भाषाओको और अनेक धर्मोको रहना है। इसलिए अगर यहा ऐसे छोटे-मोटे झगडे हुए तो हिन्दुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नही होगा। हम सब एक हैं, यह भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रातीय भाषाकी जगह नही लेगी। मातृभाषाके लिए भी प्रेम की जरूरत है। पाश्चात्य लोगोसे हमने 'अभिमान' शब्द सीखा है। पर इसमे देशप्रेम नही है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है? वह देश-प्रेमका अपभ्रश है। राष्ट्रभाषाका अपभ्रश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोको मातृभाषाका अभिमान नही, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नही, राष्ट्र-प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते हैं। राष्ट्रभाषाका प्रचार युद्ध-विरोधी सदेशका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमे प्रेम बढाना चाहते है और मानव-समाजको प्रेमकी नीवपर स्थापित करना चाहते हैं तो एक-दूसरेका सबध कायम रखनेके लिए रेलवे काम नही देगी, रेडियो काम नही देगा। आपके अतरात्माका प्रेम काम देगा। इसी प्रेमके प्रचारके लिए हिन्दी-प्रचार-सभा स्थापित है।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती हैं। जैसे दुनिया भरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामे मानव-भाषा एक है। यह हृदयके अतरतमकी भाषा है। मानव-मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषद्मे है वह ईसप्स फेबल्समे है। लडकोको ईसप्स फेबल्स पढनेमे बडा आनद आता है। क्योकि वे आत्माको पहचानते है। आत्माकी भाषाके प्रचारमे राष्ट्रभाषाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझ लेगे तब सबकी आत्माको समझेगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा

एक है, हिंदू-मुसलमानकी आत्मा एक है। उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है। मैंने अपने हृदयकी बाते आपके सामने रखी इससे ज्यादा और कुछ कहना नही है।[1]

ह॰ ी प्रचार समाचार : मद्राससे—जनवरी, १९४२

: १० :

सरकार की चुनौतीका जवाब

जब-जब मै जन-समूहके सामने बोलने खडा होता हूँ, तब-तब हमेशा मेरे हृदयमे अत्यत उत्साह भरा होता है। क्योंकि आप भाई-बहनोके दर्शनमें एक प्रकारकी पावनता अनुभव होती है। मगर मुझे कबूल करना चाहिए कि आज आपके सामने बोलनेमे मुझे हमेशाका-सा उत्साह अनुभूत नही होता। इसका कारण यह है कि जिस तरह हम लोगोकी रिहाई हुई है और आपके सामने बोलनेका प्रसग आया है, उसमे उत्साहका कारण नही है; उल्टे उदासीनताका कारण है। आपमेंसे बहुतोको आनन्द होता होगा कि जेलमेंसे हमारे भाई छूटकर हमारे बीचमे आ गये है और हमसे मिलेंगे। परन्तु मिलनेका आनन्द भी, परिस्थिति विपरीत हो, तो विलीन हो जाता है। जरा-सा विचार करके देखनेसे ध्यानमे आ जायगा कि आजका मिलना आनन्दका विषय नही है।

सरकारने सत्याग्रही कैदियोको छोडनेका निश्चय किया है, इसकी जडमें सद्भावना प्रतीत होती, तो वह अलग चीज होती। परन्तु आजतक एमरी साहबके जो व्याख्यान-प्रवचन, आये दिन सुननेको मिले, उनपर ध्यान देनेसे दूसरा ही दृश्य दिखाई देता है। हम जेलमे अपने आप गये थे। हमारे सामने भाषण-स्वातन्त्र्यका बडा भारी सवाल था। वह जबतक हल न हो जाय,

---

१. द० भा० हिंदी प्राचर सभा, मद्रासके ग्यारहवें पदवीदान समारंभपर दिए गए दीक्षांत भाषणकी रिपोर्ट—।

तबतक जेलसे बाहर रहना हमारे लिए जहर जैसा है। परन्तु सरकारने एक जाल बिछाया है। हमे छोडनेमे उसकी ऐसी कल्पना और इच्छा मालूम होती है कि हम लोग जो वाक्-स्वतन्त्रताके सग्राममे सत्याग्रह करके जेलमे गये वे बाहर आनेपर लोप हो जायेगे और सरकारका काम अपने आप हो जायगा। यह सरकारने बडी चतुराईका काम किया है। हमे चाहिए कि हम इस जालमे फसकर अपनी लडाई बन्द न करे, बल्कि और भी तीव्र बनावें। अहिंसाके उपासकके नाते ससारमे चलनेवाली हिंसाका विरोध करनेका हमारा यह मूलभूत अधिकार और कर्तव्य जबतक सिद्ध नही होता, अर्थात् जनताके सामने हमे अपने विचार अहिंसक रूपसे आजादीके साथ रखनेका अधिकार नही मिल जाता, तबतक हमारा यह धर्म है कि हम अपना अहिंसक युद्ध जारी रक्खे। जारी रखनेका यह अर्थ है कि हम उसे और भी जोरके साथ चलाये।

अधिक जोरके साथका क्या अर्थ है? हिंसक और अहिंसक युद्धकी परिभाषामे अतर है। हिंसक युद्धमे साधनोकी हिंसकता बढाई जाती है और अहिसक युद्धमे उनकी शुद्धता। हिंसक युद्धमे हम क्या करते है? विरोधीके हथियारोके सामने जब हमारे हथियार असमर्थ साबित होते है तो उनसे भी ज्यादा भयानक हथियार हम खोजते है और उसका प्रयोग करते है। यह प्रक्रिया आज यूरोपकी लडाईमें प्रत्यक्ष हो रही है। चर्चिल साहब कहते है कि अगले साल हम जर्मनीसे भी ज्यादा हिंसक और भयानक शस्त्रास्त्र तैयार करेगे। हिटलरकी रणगाडियो (टैंको) से अधिक तादाद मे और अधिक भयानक रणगाडिया बनायेगे; तब हमारी जीत होगी। इस प्रकार एक-दूसरेकी अपेक्षा ज्यादा हिंसक शस्त्रोका निर्माण दोनो दल करते है।

अहिंसक युद्धकी रीति इससे जुदी है। अंग्रेज सरकारने हमे छोडकर यह चुनौती दी है कि, "अरे, हिंदुस्तानके छूटे हुए गुलामो! अगर तुम्हे स्वतन्त्रता चाहिए, तो तुम और जोशसे लडो।" मगर इसका जवाब हम अहिंसक रीतिसे कैसे देगे? हिंसक लडाईमे ऐसी चुनौतीका जवाब साधनोकी

हिसकता बढाकर दिया जाता है। अहिंसक लडाई ज्यादा जोशके साथ चलानेका तरीका दूसरी तरहका है। अहिंसक युद्ध अधिक जोरसे चलान का मतलब साधनोकी शुद्धता बढाना और अधिक आत्मशुद्धि करना है। हमारे इस छुटकारेकी बुराईमेसे यह भलाई निकली है। ईश्वरकी कृपासे अग्रेज सरकारको हमे जेलमे डालनेकी प्रेरणा हुई। इसलिए हमे आत्म-परीक्षणका और जिन साधनोको हमने शुद्ध समभकर अपनाया था, उनकी शुद्धता परखनेका सुयोग मिल गया। हमारे साधनोमे जो कुछ अशुद्धि रह गई हो, उसे दूर करके अब हमे अधिक तीव्रतासे लडना चाहिए। अहिसक प्रक्रियामे ज्यादा जोरके साथ लडनेका अर्थ यही है।

अपने साधनोमे छिपी हुई अशुद्धिका निरीक्षण करनेका अवसर हमे जेलमे मिलता है। लेकिन मुझे खेदके साथ स्वीकार करना पडता है कि जेलमे जितनी सयमशीलता और मर्यादा रखनी चाहिए थी उतनी हममेसे बहुत से न रख सके। शायद इसीलिए परमेश्वरने हमे फिर विचार करनेका यह अवसर दिया है कि हम अपने औजारोको कैसे शुद्ध करे। जेलमे हमें छूट मिले या हमारे साथ ढीलका बर्ताव हो तो भी हमारे सयम, विवेक और तपश्चर्याका सरकार, अधिकारीवर्ग और दूसरे लोगोपर अनुकूल परिणाम होना चाहिए। लेकिन हमने तो यह किया कि जितने भाग प्राप्त हो सके प्राप्त किये। ऐसी हालतमे अगर हमे लडाई जोरसे चलानी है तो ज्यादा शुद्ध कसौटीपर उतरकर सत्याग्रह करना चाहिए। तभी हमारे अगले सत्या-ग्रहमे अधिक बल आवेगा। अगर हम अपनी लडाई अधिक शुद्ध मनसे, अधिक शुद्ध जनसे और अधिक शुद्ध योजना से चलायेगे तो वह निःसशय सफल होगी।

एक सवाल यह उठाया गया है कि इस छुटकारेको सरकारकी सद्भावना समभकर हमे अपना कार्यक्रम क्यो न बदलना चाहिए? इसपर मुझे रवि-बाबूकी एक उक्ति याद आती है। उन्होने कहा है कि भारतवर्ष एक महा-मानव-सागर है। यह यूरोपके एक-एक करोडके नन्हे-नन्हे देशोके समान टूटपुजिया नही है। जिनके अलग-अलग धर्म, अलग-अलग भाषाए, अलग-

अलग रहन-सहन, भिन्न-भिन्न प्रान्त, जुदे-जुदे रीति-रिवाज है, ऐसे चालीस करोड भाई-बहनोका यह देश एक महान् सयुक्त कुटुम्बके समान है। यह हमारा सद्भाग्य है। इस विविधताके कारण इतने बडे सागरमे तरह-तरहकी लहरे उठती है, भिन्न-भिन्न विचार उत्पन्न होते है। इसी तरहका एक खयाल यह भी है कि कार्यक्रम बदला जाय। लेकिन सवाल यह है कि क्यो बदला जाय ? क्या जिस मुद्देपर हमारी लडाई शुरू हुई थी वह मान लिया गया ? उसकी खातिर हम बाहर से जेलके भीतर गये थे। अब वह माग स्वीकार किये बिना हमे फिर बाहर भेज दिया गया। तो भी अगर कार्यक्रममे परिवर्तन करना है तो हम जेल गये ही क्यो थे ? जेल जानेसे पहले तो हम आजाद थे ही। हमारी माग स्वीकार न होनेपर भी अगर हम कार्यक्रम बदल देते है तो उसका अर्थ यह है कि वह माग ही छोड देने योग्य है। मै आपसे कहना चाहता हू कि जिस मुद्देपर हमने यह अहिसक लडाई छेडी है वह छेडनेके लायक नही है। बहुतसे अधिकार ऐसे होते है कि उनका व्यवहारमे लाना सदा आवश्यक नही होता। लेकिन भाषण स्वातन्त्र्यके अधिकारपर अमल न करनेसे काम नही चलेगा।

भाषण-स्वातन्त्र्य तो हमारा अधिकार ही नही है, धर्म है। धर्मका तो पालन सदा करना ही पडता है। हमे आज जो भी बल मिला है, वह पिछले बीस वर्षकी अहिंसाकी साधनासे मिला है। आप लोगोमेसे जो मुझसे बडे या मेरी उम्रके है, वे जानते है कि तीस वर्ष पहले हिन्दुस्तानकी क्या हालत थी। उस वक्त हम 'वदेमातरम्' बोलनेसे घबडाते थे और 'स्वराज्य चाहिए', कहना भयानक था। शरीरको सुगठित करनेके लिए अखाडे खोलते, तो वे भी भयानक माने जाते। बीस-पच्चीस वर्ष पहले हमारी ऐसी हीन-दीन दशा थी। होती भी क्यों न ? जब कि दो सौ वर्षसे हम नि शस्त्र और परतत्र थे। हम अपनी बुद्धि, लक्ष्मी और शक्ति सब कुछ गवा चुके थे। ऐसी हालतमे हम कैसे समर्थ हुए ? इतनी बलवान सरकारका विरोध—और सो भी पचास वर्षतक—लगातार करनेकी शक्ति क्योकर काग्रेसमे आई ? यह किस जादूकी लकडीका प्रताप है ?

परसो एक जर्मन वक्ताने बडे गर्वसे कहा था कि अब यूरोप नि शस्त्र हो गया और हमारी रणगाडिया शाति कायम रख लेगी। यह विश्वास रिबन ट्रापको इसी आधार पर हुआ कि टंकोके सामने निहत्थी प्रजा क्या कर सकती है ? वह जरा भी ची-चपड करेगी तो दबा दी जायगी। यही श्रद्धा अग्रेजोकी थी कि जिस हिन्दुस्तानके हथियार छीन लिये है, उसपर हमारा पजा आरामसे रहेगा। वे समझते थे कि हम अपने शस्त्रास्त्रोके जोरपर नि शस्त्र हिदुस्तानमे बडी आसानीसे शातिका प्रचार करेंगे। किंतु इस तरहकी दुर्दशामे पडे हुए देशने इतने जबरदस्त साम्राज्यसे टक्कर लेनेवाली काग्रेस-जैसी महान् सस्था कैसे खडी कर ली ? यह अहिंसाका ही चमत्कार है। अहिंसाके तत्वमे सगठन करनेकी बडी शक्ति है।

यह युग सघ-बलका युग है। पहले तो इक्के-दुक्के आदमियोंके बलसे भी काम चल जाता था, परतु इस जमानेमे बलवान सघटनके बिना सत्ता नही मिल सकती। यूरोपमें वह सगठन हिंसाके आधारपर होता है। तो भी वहा के देशोको हिंसाको राष्ट्रव्यापी बनाना पडता है; तभी वे मुकाबिला कर सकते है। देखिए, रूसने एक करोड सेना खडी की है। यह कोई छोटी बात नही है। फिर भी, उसके पैर लडखडा रहे है। बात यह है कि हिंसामे शत्रुसे भी प्रचड होना चाहिए। फुटकर हिसक बेकार होता है। या तो अत्यन्त व्यापक और तीव्र स्वरूपका सघटन होना चाहिए, या बिल्कुल नही। और कोई चारा नही है। गुप्तरूपसे षड्यत्र करके दो-चार खून करनेसे विजय नही मिलती। राष्ट्के तमाम लोगोको उसी काममे जुट जाना पडता है। इग्लैंडको देखो। वहा स्त्रियोतककी भरती हो रही है। साढे अठारह वर्षसे ऊपरके तो सभी स्त्री-पुरुष जबरन भर्ती किये जा रहे है। सोलहसे साढे अठारह वर्षके तरुण-तरुणियो को भी भरती होनेके लिए प्रेरणा, उत्तेजन और प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इतना भयानक सगठन करने पर कही आशा हो सकती है। नही तो चुपचाप गुलाम बनकर टैंकके आगे सिर भुकाओ। यूरोपमे ये ही दो मार्ग पाये जाते है।

लेकिन महात्माजीने हमारी सस्कृति और स्थिति देखकर हमें एक नया

हथियार दिया है। वह है अहिसा। इसमे जागृति और सगठनकी कितनी विलक्षण शक्ति है। यह हमारे जैसे नि.शस्त्र, विशाल और पराधीन देश की आजकी निर्भयतासे साबित है। चोरी-चुपकेकी हत्यामे यह शक्ति नही है। क्या हम इतनी बडी शक्तिको खो बैठे ? फिर तो अग्रेजोकी शरण जानेके सिवा हमारे पास और कोई उपाय ही नही रह जायगा। हम ऐसे शस्त्रको हरगिज न छोडेगे। उसे हम और भी तेजस्वी बनायेगे। चुपचाप नही बैठेगे। जब इतना भयकर हिसा-काड हो रहा है, दुनिया तबाह की जा रही है और हमारे देश को भी उसमे घसीट लिया गया है, तो हम उसके विरोधमे प्रचार किये बिना कैसे रह सकते है ?—लोगोसे यह कहे बिना हम कैसे रह सकते है कि लडाईमे शामिल मत होओ। इस वक्त अगर हम चुप रहेगे तो सारा राष्ट्र खस्सी हो जायगा। हम गुलाम बने रहेगे। यह भाषण-स्वातत्र्य कोई मामूली अधिकार नही है, वह हमारा महान् कर्तव्य है। जबतक उसे पूरा करनेका अधिकार न मिले, तबतक खाली छुटकारेके जालमे फसकर हम अपनी लडाई बद कैसे कर सकते है ? यह हुआ शुद्ध, अर्थात् आत्यतिक अहिसाके पहलू विचार।

एक दूसरी भी दृष्टि है। वह यह कि 'हमारे लिए हिसा-अहिसाका मुद्दा प्रधान नही है। हम तो साम्राज्यवादी युद्धमे मदद नही करना चाहते। और जबतक सिर्फ अग्रेजोका ही सवाल था, तबतक उनका साथ न देना ठीक था। लेकिन रूसके शामिल होनेसे लडाईका स्वरूप ही बदल गया है। वह साम्राज्य वादी राष्ट्र नही, समाजवादी मुल्क है। अब तो जो लोग इस युद्धको साम्राज्य-वादी और साम्राज्यवादको बढानेवाला समझकर उसका विरोध करते थे, उन सबको चुप रहना चाहिए। लेकिन इस बारेमे एक सवाल उठता है—'अग्रेज और रूसकी दोस्तीका क्या मतलब है ?' या तो इग्लैडने साम्राज्यवाद छोडा होगा या रूस अपने आदर्शसे कुछ नीचे उतर आया होगा। अबतक जो घटनाए घटी है, उनसे साफ है कि रूस ही अपने आदर्शसे गिर रहा है। यो तो रूस अपने आदर्शसे पहिले भी कुछ कुछ गिर चुका था। इस पतनके बीज रूसी क्रातिमे ही थे। और उसकी योजनामे भी हिसाको स्थान है।

मतलब यह कि रूसमे पहले हीसे हिंसक शक्ति थी। अब वह बढ गई है।

हिसक शक्तिका विरोध काग्रेसके तत्त्वज्ञानमे है। लेकिन साम्राज्यवाद की बिनापर जो विरोध किया जाता था वह भी कायम ही रहता है। क्योकि इग्लैडकी साम्राज्यवादी मनोवृत्तिमे कोई फर्क नही हुआ है। अगर हुआ होता तो उसका प्रकाश हिन्दुस्तानमे जरूर पडता। इग्लैडके रुखमे कोई फर्क नही पडा है। ऐसे साम्राज्यवादी राष्ट्रसे रूसने हाथ मिलाया है। ऐसी हालतमे यह नही कहा जा सकता कि युद्धका स्वरूप बदल गया है। उल्टे रूस और इग्लैडके मिल जानेसे तो युद्धकी हिंसकता और भी बढेगी और इग्लैडके साम्राज्यवादकी छूत रूसको भी लगेगी। इसलिए साम्राज्यवादके विरोधके कारण भी हमे सत्याग्रह जारी रखना चाहिए।

एक तीसरी बात यह कही जाती है कि पार्लमेटरी कार्यक्रम क्यो न शुरू किया जाय ? यह कौसिलोका मोह उसी हालत मे अच्छा हो सकता है, जब राष्ट्रके हाथमे सच्ची सत्ता होती है। आज वह सत्ता कहा है ? आज तो पार्ल-मेटरी कार्यक्रम फिरसे शुरू करनेका मतलब सरकारके जालमे फसना होगा। एसेबलीमे जाकर कमाडर-इन-चीफकी हा-मे-हा मिलानी होगी। ठीक वही हाल होगा जैसा कि हमारे यज्ञयागादि धार्मिक समारभोमे होता है। पति सकल्प करता है, पत्नी उसके हाथमे हाथ लगाकर अनुमोदन देती है। इसके माने यह है कि हिंदुस्तान खुशीसे युद्ध मे धन-जनकी सहायता दे। इसका यही अर्थ हुआ कि हम सरकारके दरबारमे जाय और वहा भारतके सेनापति वेवैल साहबके प्रवचन सुनकर हिसक कार्यमे उनकी मदद करे। फिर तो काग्रेसको अहिसा-द्वारा स्वराज्य लेनेका अपना उद्देश्य बदल देना होगा। लेकिन गाधीजीको और मुझ-जैसे असख्य व्यक्तियोको यह बात नही जचती कि हिसाके मार्गसे स्वराज्य मिलेगा। इसीलिए हमे पार्लमेटरी प्रोग्राम (दरबारी राजनीति) नही जचती।

इसलिए हमे इस युद्धका यथाशक्ति विरोध करना ही चाहिए। हा हमको अपने साधन पहले की अपेक्षा अधिक शुद्ध रखने होगे। जो लोग जेल

जाय, उन्हे अधिक सयमशीलता, अधिक कर्तव्यनिष्ठा और अधिक भक्ति रखनी होगी। इसका वातावरणपर शुभ परिणाम होगा। इतनी दक्षता और सावधानीसे हमे आगे बढना चाहिए।

मगर जेल जानेवालोमे युद्धके प्रतिकारकी शक्ति कहासे आयेगी ? वह तो तब आयेगी, जब आप सबका सहयोग और अनुमोदन होगा, हम आप सबके प्रतिनिधि होकर जायगे और आपमे और हममे एकसूत्रता रहेगी। तभी युद्ध-विरोधी प्रचारमे शक्ति पैदा होगी। जब हमारे विचारके पीछे आपका समर्थन होगा, तभी सत्याग्रहमे प्रचण्ड शक्ति आयेगी। खाली हाथ उठाकर समर्थन करनेसे काम नही चलेगा। देखिए, यूरोपवाले अपनी आजादीके लिए कितना बलिदान कर रहे है ? लाखो आदमी और विपुल धन कुर्बान किया जा रहा है। इसी तरह आपको प्रत्यक्ष सहयोग देना होगा। वह सहयोग इसी तरह हो सकता है कि लाखो लोग रचनात्मक-कार्यक्रममे भाग ले। केवल हाथ उठानेके त्यागसे काम नही चलेगा। अगर आप लोगोका सहयोग सजीव और व्यापक हो तो जेलमे भले मुट्ठीभर ही आदमी चले जाय, तोभी हम सफलता प्राप्त कर सकते है। हनूमान का उदाहरण आपको मालूम है। वह अकेला लकामे पहुचा था। महाबली राक्षसोके बीच इस तरह पहुचकर पराक्रम करनेकी शक्ति उसमे कैसे आई ? यह पराक्रम उसने किसी अखाडेमे कसरत करके प्राप्त नही किया था। जब इस निर्भयताका कारण उससे पूछा गया, तो उसने कहा, 'मेरा असली बल शरीरबल नही है। श्रीरामचन्द्रका पृष्ठ-पोषण ही मेरे इस पराक्रमका आधार है। मै रामका दास हू।'

कहावत है कि 'पचोमे परमेश्वर' होता है। जनता ही जनार्दन है। उस देवताका समर्थन हमारा सच्चा बल है। वह समर्थन रचनात्मक आचारके रूपमे ही हो सकता है।

हिसात्मक युद्धकी तैयारीमे भी अखड विधायक कार्यक्रमकी आवश्यकता होती है। हिंसक युद्धमे सिर्फ सेना ही नही लडती। समूचे राष्ट्रको विधायक कार्यमें जुटजाना पडता है। जब प्रचड विधायक सगठन होता है, तभी

हिसक युद्धकी तैयारी होती है। युद्धकी सामग्री बनाने के लिए बड़े-बड़े कारखाने खोलने और चलाने पडते है, रास्ते और पुल बनवाने पड़ते है, वर्दिया बनवानी पडती है, खेती और दूसरे उद्योगो-द्वारा खुराक और रसद का प्रबध करना पडता है, लडके-लडकियोको पाठशालाए छोडकर इस काममे लग जाना पडता है, स्त्रियोको घरका काम सम्हालकर युद्धकी विधायक तैयारीमे हाथ बटाना पडता है। जरा हिटलरसे पूछिये तो वह कहेगा कि मुझे चौदह आने विधायक कार्य करना पडता है और सिर्फ दो आने प्रत्यक्ष लडाईका काम। सेना लडती है, परतु सारा राष्ट्र उसके पीछे काम करता है। स्त्रिया सीने-पिरोनेका, मरहम-पट्टीका और सेवा शुश्रूषाका कार्य करती है। छोटे-छोटे बालक भी कारखानोमे अपने बूतेका काम करते है। बूढे अपने लायक काम करते है। हा, इस सारे विधायक कार्यका उपयोग तो हिसक लडाईके ही लिए होता है। लेकिन वह कार्य अपनेमे विधायक ही होता है। जब हिसात्मक युद्धमे जनताके इतने विधायक-सहयोगकी आवश्यकता है, तब अहिसक लडाईकी तो बात ही क्या? उसमे तो सोलह आने शक्ति रचनात्मक कार्यकी ही है।

खाली युद्ध-विरोध सफल कैसे हो सकता है? युद्ध-विरोधी सत्याग्रह तो ऐसा है जैसे चिरागको दियासलाई लगाकर सुलगाते है। लेकिन चिराग किस शक्तिके आधारपर प्रकाश देता है?—बत्ती और तेलके आधारपर। वह न हो तो दिया प्रकाश नही दे सकता। सारी बत्तीको तेलसे पोषण मिलता है। दियासलाई तो निमित्तमात्र होती है। बत्तीका एक सिरा दियासलाईसे जला देनेपर चिराग अखड जलता रहता है। उसी तरह सिर्फ युद्धविरोधकी दियासलाईसे काम नही चलेगा। जबतक रचनात्मक-कार्य-क्रमका तेल और बत्ती नही होगी, तबतक प्रकाश नही पडेगा, दिया नही जलेगा। अगर तेल और बत्ती होगी और बत्तीको तेलकी खुराक बराबर मिलती रहेगी, तो युद्ध-विरोध सफल होगा, तेजस्वी होगा। लाखो नर-नारी जब रचनात्मक कार्य-द्वारा सत्याग्रह-रूपी दीपकको तेल-बत्ती पहुंचाते

रहेगे, तभी उसकी ज्योति अखड और प्रचड रहेगी।

इस तेलके भडारको भरपूर रखनेके लिए हिंदू-मुस्लिम एकता होनी चाहिए। लेकिन वह कैसे हो? हमे एक-दूसरेका विश्वास करना सीखना चाहिए। हजार-हजार और बारह-बारह सौ वर्षसे हम एकत्र रह रहे है। फिर भी आपसमे अविश्वास और डर है। उसे बिलकुल नष्ट कर देना चाहिए। दूसरी महान् विधायक प्रवृत्ति हरिजन-सेवा है। हमे अपने हरिजन भाइयोको नजदीक लेकर उनके साथ कुटुबियोका-सा बर्ताव करना चाहिए। घर-घरमे चर्खा भी चलना जरूरी है। हमारा राष्ट्र गरीब है। वह तो जब दोनो हाथोसे काम करेगा, तभी भूख मिटेगी।

एक गृहस्थने मुझसे कहा, "मेरे यहा तो खानेवाले छ-सात मुह है।" जवाबमे मानो ईश्वरकी वाणी ही मेरे मुहसे निकली। मैने कहा, "घबडानेकी क्या बात है? सात मुह है तो चौदह हाथ भी तो है? यह तो ईश्वरकी दया और प्रेममय योजना है कि उसने एक मुहके पीछे दो हाथ दिये है, दो हाथोके पीछे एक मुह नही।" हम चालीस करोड है। हमारे अस्सी करोड हाथोमे कितनी शक्ति भरी है! यह हमारा दुर्भाग्य या मुसीबत नही है, महान् सद्भाग्य और लक्ष्मी है। दोनो हाथ काममे लगाइए। सूत कातनेका काम बिलकुल आसान है। लडाईकी वजहसे आज मिलका कपडा बहुत महगा हो गया है। लडाईका कोई ठिकाना नही कबतक चले। मुझे तो वह लबी जाती दीखती है। ऐसी हालतमे महगाईके कारण कदाचित कपडेके अभावमे हम सभीको जाडेके दिनोमे ठिठुरना पडे। परावलबीका यही हाल होता है। लेकिन सूत कातनेका काम तो बच्चे, बूढे, कमजोर सभी कर सकते है।

स्वावलबनके अलावा एक दूसरी दृष्टि भी है। देशके लिए हररोज कुछ-न-कुछ करना चाहिए। इस तरहकी प्रत्यक्ष क्रिया कौन-सी हो सकती है? हमे अपने बच्चोको कातनेके सस्कारमे भी वैसीही भावना देनी चाहिए जैसी तुलसीकी पूजामे। छुटपनमे हमारी मा हमे तुलसीमे पानी डालनेके लिए कहा करती थी। हर एक घरमे इस तरह प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा बच्चोके दिलमे

धर्म-प्रीतिका सस्कार पैदा किया जाता था। प्रत्यक्ष उपासना सिखाई जाती थी। हम भी छोटे बच्चोसे प्रतिदिन देशप्रीतिके प्रतीकके रूपमें प्रत्यक्ष कार्य करावे। राष्ट्र-प्रेमकी द्योतक इस क्रियामे हमे अभिमान मालूम होना चाहिए।

इसी तरह सब तरहके व्यसन छोड़ने चाहिए।

याद रक्खो अगर सब लोग रचनात्मक काम करोगे, तो हमारी सत्याग्रहकी लडाईमे वह जोर पैदा होगा जिसको कोई शक्ति दबा न सकेगी। फिर आपके लिए 'पराजय' जैसा कोई शब्द ही नही रहेगा। मुझे हमारी अतिम विजयके बारे मे तनिक भी सदेह नही है। मेरे मित्रो, सिर्फ आपका सक्रिय समर्थन चाहिए।[1]

सर्वोदय : जनवरी, १९४२

११ .

हमारी तर्कशुद्ध भूमिका

मुझे पता नही था कि मै यहा अपने अधिकारकी कक्षामे आनेवाला काम करने आ रहा हू। परतु प्रारभमे इस कॉलेज के आचार्यका जो भाषण सुना उससे मालूम हुआ कि मै अपने अधिकारके ही कामके लिए यहां आया हू। अभी कहा गया कि यह कॉलेज अगले सत्रमे नागपुर जानेवाला है और इसलिए यह अंतिम प्रसग है। अक्सर अतिम अवसरोपर ही मेरी बुलाहट होती है। मालूम होता है वही मेरा अधिकार है। योग्य स्थानपर योग्य व्यक्तिकी नियुक्ति अपने-आप कैसे हो जाती है यह देखकर आश्चर्य होता है। मैने जब इस निमत्रणको स्वीकार किया तो मेरे आसपास रहनेवालोको जरा आश्चर्य ही हुआ। वे सोचने लगे, 'यह कहाका प्राणी कहा पहुचेगा'? ज्ञानदेवने लिखा है, "एक जगली जानवर पकडकर राजमहलमे—कोला-हलसे भरे राजमहलमे—लाया गया। बेचारा हैरान हुआ कि कैसे शून्य

१. रिहाईके बाद (७ दिसंबर, १९४१ को) वर्धामें दिया गया भाषण।

स्थानमे आ पहुचा हू। उसे दसो दिशाए सुन-सान प्रतीत होने लगी।" साथियोने सोचा कि यहा मेरा भी वही हाल होगा। क्योकि कॉलेज जैसे स्थानोका वातावरण और होता है और हमारा वातावरण कुछ और तरहका। इसलिए उनकी शकाके लिए गुजाइश जरूर थी।

परतु मेरे दिलमे इस तरहकी कोई शका जरा भी नही थी। क्योकि विद्यार्थी चाहे कहीका हो, चाहे कौन-सा भी हो,—वह दूसरे प्रकारका हो सकता है—लेकिन उसकी वृत्ति मेरी वृत्तिसे मेल खाती है। वह मुझे मेरी आत्मा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव मुझे कई बार, याने जब-जब मै विद्यार्थियोके सामने बोला हू तब-तब, हुआ है। जब मै विद्यार्थियोसे बोलता हू तो मुझे ऐसा मालूम ही नही होता कि मै किसी दूसरेसे बोल रहा हू। ऐसा मालूम होता है मानो मेरी आत्मा ही साकार होकर सामने खडी है, मै अपने-आपसे ही बोल रहा हू। कारण मै एक विद्यार्थी हू। अगर मै विद्यार्थी न होऊ तो मै कुछ भी नही हू। यह स्थिति है। आजतक विद्यार्थी रहा हू और, अगर इस जन्मकी ही बात करू, तो अततक भी रहूगा, ऐसी आशा करनेमे हर्ज नही। इसलिए वातावरण चाहे कितना भी भिन्न क्यो न हो, मेरे सामने जब विद्यार्थी होते है तो उनमे और मुझमे भेद नही रहता। इस विषयमे मुझे कोई सदेह नही था। इसीलिए यह निमत्रण मैने स्वीकार किया।

लेकिन यहा आनेपर मै किस विषयपर बोलू ? मै समझता हू कि मै कौन-से काममे लगा हू, यह जानते हुए, या यो कहिए, यह जाननेके कारण ही मुझे यहा बुलाया है। इसलिए मुझे क्या बोलना चाहिए इसके विषयमे आपकी अपेक्षा स्पष्ट ही है। मै उस अपेक्षित विषयपर ही बोलनेवाला हू।

परतु एक बात मुझे कह देने दीजिए। कारण, प्रस्तावित भाषणमे मुझसे यह अपेक्षा की गई है कि मै विद्यार्थियोको कुछ उपदेश दूं। लेकिन मैं उपदेश हरगिज नही दूगा। क्योकि मैने यह सूत्र ही बना लिया है कि जो विद्यार्थियोंको उपदेश देता है वह एक 'पढत-मूर्ख' (पठित-मूर्ख) है और जो ऐसे उपदेश सुनता है वह दूसरा पढ़त-मूर्ख है। रामदासने पठितमूर्खके लक्षण

बतलाये है। आप उन्हे जानते है। लेकिन मै देख रहा हू कि वे लक्षण बराबर बढते चले जा रहे है। अब वह पुरानी तालिका कामकी नही है।

विद्यार्थियोको उपदेश देना मूर्खता का लक्षण है, यह कहनेसे मेरा यह अभिप्राय है कि ससारमे यदि कोई सपूर्ण स्वतत्रताका हकदार हो सकता है तो विद्यार्थी ही। क्योकि दूसरे सब लोगोके पीछे कोई-न-कोई दड, कठिनाई, दबाव, अकुश मर्यादा लगी ही रहती है और लगी रहना उचित भी है। लेकिन विद्यार्थी किसी बधनसे बधा हुआ नही होना चाहिए। मै अपने अनुभवसे यह कह रहा हू। मैं भी विद्यार्थी ही हू। एक विद्यार्थीकी हैसीयतसे मै कोई भी बधन स्वीकारनेको तैयार नही हू। एक नागरिकके नाते मुझपर कुछ बधन है। मै अपने माता-पिता का बेटा हू इसलिए भी कुछ बधन है। मै अपने मित्रोका सहयोगी हू इस कारण भी कुछ बधन प्राप्त होते है। उन्हे मै स्वीकार करूगा, यह बात और है। परतु विद्यार्थीके नाते मै किसी बधनको स्वीकार करनेके लिए तैयार नही हू। विद्यार्थीसे यही अपेक्षा रक्खी जानी चाहिए कि वह तटस्थ वृत्तिसे हरएक बातकी जाच-पडताल करे। उसके सामने कोई विषय या ज्ञान इसी अपेक्षासे उपस्थित किया जाना चाहिए। 'क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त है' इसका निश्चय करनेका उसको हक है। इसलिए मै उपदेश नही दूगा।

ज्ञान का कार्य दर्पणके समान है। दर्पण स्वय स्वच्छ है। वह देखनेवालेको उसका रूप दिखायेगा। लेकिन आइना उठकर किसीकी नाक साफ नही करेगा या जबरदस्तीसे अथवा समझा-बुझाकर नाक साफ नही करायेगा। यह काम माता खुशीसे करे। आइना तो इतना ही बतायेगा कि नाक साफ है या गदी। वह अपनी स्वच्छताके द्वारा सिर्फ दिखानेका काम करता है। अगला कार्य वह देखनेवालेको सौप देता है। वह उसकी मर्जीकी बात है, उसका हक है। अपने स्वच्छताके गुणकी बदौलत दर्पण देखनेवालेके हकमे दखल नही देता। ज्ञानकी प्रक्रियामे उपदेशके बराबर दूसरी गलती नही है। हमारे शास्त्रकार इसी सिद्धातके अनुसार चले। इसीलिए उन्होने शासन किया। उन्होने समाजका शासन किया; इसलिए वे शास्त्रकार कहलाये।

परतु उनका शासनका तरीका यह था कि वे वस्तुका स्वरूप स्पष्टरूपसे दिखाकर चुप हो जाते थे। शास्त्रकारोकी इस रीतिके अनुसार तुम्हारे सामने विषय उपस्थित करके उचित-अनुचितके निर्णयका अधिकार तुम्हे देकर—वह अधिकार तुम्हे पहलेसे ही प्राप्त है—मैं भाषण करूगा।

तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। इसलिए वर्तमान परिस्थितिकी तरफ तुम्हारा ध्यान अवश्य गया होगा। उस सबधमे तुम्हारा श्रवण और वाचन जाग्रत होगा। जरा देखो, आजका जमाना कैसा है ? सारे मानव-समाजके पेटमे जबरदस्त दर्द हो रहा है। पृथ्वीके पेटमे भी इसी प्रकारकी वेदना होती है और भूकप जैसे उत्पात होते है। इस भयानक वेदनामेसे कौन-कौन-से उत्पात ससारमें होनेवाले है, यह कोई नही बतला सकता। इधर कई सदियोसे इतना उत्पाती समय हुआ ही नही। लोगोका यह खयाल है कि मानव-समाजका इतिहास पाच-दस हजार वर्षोंका पुराना है। तुम इतिहासकी जो पुस्तके पढते हो, उनमे मुश्किलसे दो-तीन हजार वर्ष पहलेका इतिहास दिया हुआ होता है। उसके पहलेके करीब हजार-दो-हजार वर्षोंका हाल मोटे तौरपर अदाजसे बतलाया जाता है। परतु वस्तुत मानव-समाजका इतिहास कम-से-कम दस लाख वर्षोका है। इसलिए हमे जो इतिहास सिखाया जाता है वह तो मानवसमाजके इतने लबे इतिहासका इधरका आखिरी सिरा है। इतने बडे अवकाशमे कई क्रातिया हुई होगी, कई उदर-पीडाए हुई होगी। परतु पिछले सारे ज्ञात इतिहासमे इतनी भयानक उदरवेदना आजतक कभी नही हुई थी।

आजके इस युद्धमे समूची दुनिया शामिल हुई-सी है। समूची दुनिया ! मै लाक्षणिक या अलकारिक अर्थमे नही कहता। अक्षरश सारी दुनिया इस युद्धमे शरीक है। यह बात हमे खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। आजका युद्ध सारी दुनियाका 'सकुल युद्ध' है। 'टोटल वॉर'के लिए मैंने 'सकुल युद्ध' शब्दका प्रयोग किया है। मतलब, यह ऐसा युद्ध है जिसमे समूचे राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोके दुश्मन माने जाते है—यहाके पुरुषोका वहाके पुरुषोसे वैर है, यहाकी स्त्रियोकी वहाकी स्त्रियोसे अदावत है, यहाके जानवरोकी वहाके जानवरोसे

दुश्मनी है, यहाके पेडोका वहाके पेडोसे शत्रुत्व है, यहाके औजारोका वहाके औजारोसे, यहाके जड पदार्थोका वहाके जड पदार्थोसे सीधा, तिरछा, आडा-टेढा, ऊपरसे, नीचेसे, चारो तरफसे, सारे शब्दयोगी और उभयान्वयी अव्ययोसे व्यक्त होनेवाला, सब तरहका, बैर है। इसे और कोई विधि-निषेध लागू नही है—जिसकी बदौलत विजय होगी वह विधि और जिसके कारण पराजयकी सभावना हो वह निषेध। इसलिए मै जो यह कह रहा हू कि समूचा जगत इस युद्धमे शामिल है, उसका आप अक्षरार्थ लीजिए।

अभी उसी दिन पढा कि इग्लैडने जो बात अपने इतिहासमें कभी नही की वह आज की है। वहा ऐसा कानून बना दिया गया है कि अठारह सालसे अधिक उम्रवाली जो स्त्रिया अविवाहित हो उन्हे, और विवाहित होते हुए भी जिनके सतान नही है उन्हे, युद्धमे शामिल होना चाहिए। यह भी हिसाब लगाया गया है कि इस तरहकी सोलह लाख औरतें मिल सकती है। लेकिन इतनेसे भी तसल्ली नहीं हुई है। वे कहते है कि सोलह और अठारहके बीचकी उम्रकी स्त्रियोको युद्धमे शामिल होनेके लिए उत्तेजन दिया जायगा। हमारे यहा कहा करते है कि **'प्राप्तेतु षोडषे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्।'** 'पुत्र सोलह वर्षका होते ही उससे मित्रके समान बर्ताव करना चाहिए।' उसी न्यायसे सोलह वर्षकी होते ही स्त्री युद्धके काबिल मानी गई।

उधर रूसने एक दूसरा ही ऐलान निकाला है। कहा जाता है कि इन पाच महीनोकी लडाईके बाद, मैदानमे मारे गए, घायल हुए या कैद किये गये मिलाकर, कोई एक करोड सैनिक लडाईके लिए अयोग्य हो गए है। अठारह करोडके राष्ट्रमे, किसी भी हिसाबसे कूतिये, तो लडाईके लायक साढे चार करोडसे ज्यादा आदमी होनेकी सभावना नही है। और उनमेसे भी सभी लडाईपर नही, भेजे जा सकते। प्रत्यक्ष लडाईपर जानेवाले हरएक सिपाहीके पीछे तीन दूसरे आदमियोकी जरूरत होती है। बिजली, पानी, आदिका इतजाम करना, रास्ते बनवाना, औजार बनवाना आदि-आदि कई काम होते है। मतलब यह कि प्रत्यक्ष सिपाही और उसके मददगारोका अनुपात एक और तीन माना जाय, तो सवा करोड़से ज्यादा सैनिक सेनामे

दाखिल नही किये जा सकते। बहुत तो डेढ करोड समझ लीजिये । इन सवा या डेढ करोडमें से एक करोड सिपाही युद्धके लिए अक्षम हो गये । इसका साफ यह मतलब है कि अब उन्हे आदमियोकी कमी महसूस होने लगी। लेकिन इतनेसे वे हारनेवाले नही है। उन्होने घोषित किया कि जिस पुरुष या स्त्रीके सतान न हो, उसपर कर लगाया जायगा । विवाहकी निर्धारित उम्रके बाद जिसकी शादी न हुई हो, उसपर भी कर लगाया जायगा । सतान होनेके बाद ही इससे छुटकारा मिल सकता है। याने, टैंकोकी कमी महसूस होते ही जिस प्रकार कारखानो द्वारा उनकी उत्पत्ति बढानेकी कोशिश होती है, उसी प्रकार मरनेके लिए आदमियोकी कमी महसूस होते ही मनुष्य-निर्माणके कारखानोको यह प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस योजनासे मरनेके लिए तुरत आदमी मिल जायगे, ऐसी बात नही है। कम-से-कम सत्रह-अठारह साल लगेंगे। लेकिन कभी-न-कभी मनुष्योकी कमी पूरी होनी चाहिए। इसलिए यह मनुष्य-निर्माणकी योजना है। कैसी भयानक परि-स्थिति है यह!

इस भयानक परिस्थितिमेसे क्या निष्पन्न होगा ? सइ उदर-वेदनामेसे आगे जो नव-निर्माण होगा उसीको ये लोग 'नवीन रचना' (न्यू आर्डर) कहा करते है। आज वे जो विध्वसक कार्य कर रहे है, उसे वे तात्त्विक दृष्टिसे निराईका काम कहते है। जिस तरह हम अपने खेतोमे पहले निराई करके फिर नई फसलके लिए उसे तैयार करते है, उसी तरहका उनका यह काम है। वे कहते है—उन्हे यह आशा है—कि इस युद्धके बाद मानव-समाजकी रचना और तरहकी होगी। माना कि होगी। लेकिन विद्यार्थियोको यह सोचना चाहिए कि जो कुछ अपने आप होगा उसे हम स्वीकारना चाहते है या हम अपनी योजनानुसार कोई निश्चित परिणाम चाहते है। इसका खूब विचार कर लीजिए। इस युद्धके बाद मानव-समाजकी आज जो स्थिति है वह नही रहेगी; इसमे कोई शक नही।

जिन्होने युद्ध शुरू किया उनके लिए उसे शुरू कर देना आसान था। परतु ज्यो-ज्यो युद्धकी प्रगति होती जाती है, त्यो-त्यो ये लोग युद्ध नही करते,

बल्कि युद्ध इन्हे करता है। ये युद्धके नियामक नही रहते; उसके नियम्य बन जाते हे। युद्ध उनका नियमन करता है। इन्हें युद्धके पीछे-पीछे जाना पडता हैं। कहा जाता है कि हिटलर सबसे बलवान् और योजना-कुशल है। लेकिन आज जो जागतिक युद्ध चल रहा है, वह उसकी रचनाके अनुसार नही कहा जा सकता। अर्थात् इस युद्धकी निष्पत्ति जो होगी सो होगी। लेकिन इतनी भयकर क्षति और त्यागके बाद जो निष्पन्न होगा; वह प्राप्त करनेके लायक भी होगा? कोई-न-कोई नतीजा तो होगा ही।

प्रचड भकपके बाद कुछ अघटित घटनाए हो जाती ह। इधरका समुद्र उधर हो जाता है, यहाका पर्वत उधर चला जाता है। ऐसी कुछ-न-कुछ उथल-पुथल होती है। भूकपसे ऐसी प्राकृतिक क्रातिया होती हैं। लेकिन वह क्राति मनुष्यकृत या मानवनियोजित नही होती—चाहे उसका परिणाम मनुष्योपर भले ही होता हो। वह स्वैर क्राति है। आजकी लडाईमेसे अगर हम अपना वाछित परिव न उपस्थित कर सके, तब तो उसे नियोजित कह सकते है। अन्यथा अपने-आप परिवर्तन तो यो भी होने ही वाला है। तो क्या आजकी स्थिति बदलकर उसकी जगह कुछ-न-कुछ नया स्वरूप आ जावे, इतने हीके लिए यह सारी मार-काट शुरू की गई? योजनाके अनुसार कोई निश्चित फल प्राप्त करनेके लिए ही तो इतनी भयानक लडाई शुरू की गई न?

लेकिन आज यह साफ-साफ दिखाई दे रहा है कि ये बडे-बडे तगड कहलानेवाले लोग—चर्चिल, हिटलर, स्टैलिन, रूजवेल्ट, सभी—युद्ध-परतत्र हो गये है। इनके वशमे युद्ध नही है। ये उसके अधीन है। जिधर वह ले जायगा, उधर जानेके लिए ये बाध्य है। मै इतना भयानक युद्ध भी हजम करनेके लिए तैयार हू। लेकिन अगर उसके बाद मै जैसा परिवर्तन चाहता हूं वैसा परिवर्तन हो सके तभी। वरना, 'जो होगा सो होगा', कहनेकी नौबत आयेगी। नवीन रचनाके लिए वर्तमान युद्ध बेकार है। वह इष्ट या निश्चित दिशामे प्रगति नही कर रहा है। इसके बारेमे तो लार्ड हैलिफेक्सने जो जवाब दिया था वही यथार्थ है। उनसे पूछा गया, 'इस युद्धका उद्देश्य क्या है?'

बेचारेके मुहसे सच बात निकल गई। उसने कहा, 'विजय ही इस लडाईका उद्देश्य है।' पहले तो 'हम प्रजातत्रके लिए लडते है' इत्यादि-इत्यादि स्वरूपकी भाषा थी। लेकिन अब भेद खुल गया। दूसरा क्या उद्देश्य बताते बेचारे? विजय प्राप्त करनेके आनदके लिए या लडनेके मजेके लिए ही क्या कभी लडाईकी जाती है? लडाईके लिए उद्देश्योकी जरूरत होती है। लेकिन यह लडाई शुरू करनेके समय उद्देश्य भले ही रहे हो, परतु अब युद्ध-चक्र शुरू हो जानेके उपरात उसे गति देनेवाला हाथ ही उसमे उलझ गया है। अब यत्र उस हाथके काबूमे नही रहा। ऐसी लडाईमेसे इष्ट निष्पत्ति, निश्चित निष्पत्ति, नियंत्रित निष्पत्ति होना अशक्य है।

तब हम इसमे शामिल क्यो हो? फलाना युद्धमे शामिल हो गया, ढिमाका शामिल हो गया, इसलिए हमारा भी शामिल होना कहातक उपयुक्त है? बुद्धिमान लोगोको इसका विचार करना चाहिए। सिर्फ हिंदुस्तानके बुद्धिमानोको नही, दुनियाभरके समझदार लोगोको इसका विचार करना चाहिए। 'जिस युद्धसे हमारा अभीष्ट परिणाम नही निकल सकता, ऐसे अनाडी, स्वैर, जडमूढ, युद्धमे हम शरीक हो या न हो?' इसका उत्तर एक ही हो सकता है—'शरीक होना मुनासिब नही है।'

एक बार शरीक न होनेका निश्चय हो जानेके बाद दूसरा सवाल यह होता है कि हमारा तटस्थ प्रेक्षक बनकर रहना कहातक उचित होगा? हमारे सब भाई ऐसे युद्धमे फस गए है जो कि अब उनके कामूबे नही रहा है, उलटे, उनकी छातीपर सवार हो गया है। 'उनकी ऐसी बेबसीमे क्या हमारा युद्धमे शामिल न होना काफी होगा? क्या हमारा तटस्थ साक्षी होकर रहना उचित होगा?' —इस प्रश्नका कोई भी सयाना आदमी यही उत्तर देगा कि तटस्थ रहकर देखते रहना उचित नही है।

तो अब दो बाते पक्की हो गई। तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। आगे चलकर दुनिया तुम्हारे ही हाथोमे आनेवाली है। तुम इस प्रश्नका निष्पक्षपात रीतिसे विचार करके निर्णय दो। देखो, यह बात तुम्हे कहातक जचती है। थोडी देरके लिए यह भूल जाइए कि यह युद्ध अत्यन्त हिसक है। लेकिन जो

युद्ध मनुष्य के वश में नहीं रहा, वरन् मनुष्यही जिसके अधीन हो गया है; उस युद्धमे सम्मिलित होना उचित नही है—यह पहला सिद्धात है। दूसरा सिद्धात यह है कि जो लोग इस युद्धमे शरीक हुए है, उनका विनाश स्पष्ट रूपसे देखते हुए भी युद्धमे शामिल न होनेवाले शेष लोगोको तटस्थ रहकर देखते रहना शोभा नही देता। ये दो सिद्धात निश्चित हुए। अब आगे क्या हो? अगर चुपचाप नही बैठना है तो क्या किया जाय? इसका विचार करने पर हम काग्रेसी लोग जो कुछ कर रहे है, उसकी उपयुक्तता आपके ध्यानमे आयेगी। यह युद्ध आरभ करके जगत्मे विचारोकी जो भूमिका आज उपस्थित की गई है, उसकी विरोधी दूसरी विचारसरणि और भूमिका का निर्माण करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। यह तीसरा सिद्धात है।

लोग पूछते है, "अजी इससे क्या होगा? सभी लोग इस युद्धमे शामिल हो गये है। तुम्हारे मुट्ठीभर आदमियोके प्रतिकार करते रहनेसे क्या होने जानेवाला है?" मै कहता हूँ, "तो फिर क्या मेरे पहले दो सिद्धात फिजूल गये?" इससे क्या होगा, सो बादमे देखा जायगा। पहले अपना कर्तव्य निश्चित कीजिए। युद्धकी भूमिकाकी विरोधी भूमिका बनाना हमारा कर्तव्य साबित होता है न? इसका क्या कोई नतीजा नही होगा? क्यो नही होगा? विरुद्ध भूमिकाका क्रियात्मक विचार तो उपस्थित कीजिए। मन्तव्यो और विचारोकी शक्तिपर भरोसा क्यो नही है? मै यह नही कहता कि विचारोकी क्रियात्मक भूमिकाका निर्माण करनेसे वर्तमान युद्ध बन्द हो जायगा। ऐसी कोई आशा मुझे नही है। परन्तु बुद्धिमान मनुष्य अगर विरुद्ध विचारोकी भूमिका अपने मनमे और जनतामे दृढ करेंगे, तो मानसिक शक्तिका एक फ्रट (मोर्चा) बन जायगा। और जब युद्ध कुठित होगा या बन्द होगा, उसके उपरात तुम्हारे विचारोकी भूमिका जाग्रत होगी और उस समय मानव-समाजकी नवरचनाके कार्यके तुम्हारे हाथोमे आनेकी सभावना होगी। उस दिनके लिए क्या आज ही से तैयारी नही करनी होगी? करनी ही चाहिए। लेकिन जब हम वह तैयारी करने लगते है, तो सरकार कहती है, "हम तुम्हे रोकेंगे।" लेकिन ऐसा मोर्चा बनाना

हमें अपना कर्तव्य प्रतीत होता है। इस मोर्चेकी बदौलत युद्ध-समाप्तिके अनन्तर हम ससारको निश्चित मार्गपर मोड सकेंगे। ये मतवाले आज युद्धमे चूर है। युद्ध अब उनके हाथोमें नही रहा। निश्चित फल पानेकी कोई आशा नही रही। इसलिए जो समझदार लोग युद्धसे बाहर रहना चाहते है, उन्हे युद्ध प्रतिकारकी भूमिका रचनी चाहिए। कारण, युद्धके बाद इन लोगोके शरीरोकी तरह बुद्धि भी थक जायगी; बल्कि शरीरसे बुद्धि ज्यादा थकी हुई होगी। आप ऐसी भूमिका रचिये कि उन्हे सहज ही आपके रास्तेपर आना पडे। इसलिए इसमे सख्याका सवाल नही है। जिनका दिमाग साबित है, वे मार्ग दर्शन करनेके अधिकारी है। नियोजित समाज-रचना करनेका कार्य उन्हीके जिम्मे आनेवाला है। इसलिए युद्ध-विरोधी विचारकी सक्रिय भूमिकाका निर्माण करना उन्हीका कर्तव्य है।

लेकिन यह कर्तव्य हमे आरामसे कौन करने देगा ? विद्यमान राज्य-कर्ता और व्यवस्थापक हमारा दडन और दमन अवश्य करेगे। अगर वे ऐसा करेगे तो वह भी एक अन्याय ही होगा, और अन्यायका प्रतिकार करना तो हमारा परम कर्तव्य है।

साराश, युद्ध किन कारणोसे शुरू हुआ इसका विचार करके उसके विरुद्ध कारणोका निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। हमारा पहला सिद्धात यह है कि अन्यायका प्रतिकार करना ही चाहिए। दूसरा यह कि प्रतिकारकी रीति भिन्न होगी, उनका हथियार अनोखा होगा। ससारको गाधीजीकी यह देन है। अन्यायके प्रतिकारका उनका तरीका अगर ससार स्वीकार कर लेता, तो यूरोपमे आज जो दृश्य दिखाई देता है, वह न दिखाई देता। उस दिन रिबनट्राप ने कहा न, कि अब यूरोपकी शातता भग होनेका डर ही नही है। क्यो ? इसलिए कि यूरोपकी सारी जनता नि शस्त्र बना दी गई है और उसके बन्दोबस्तके लिए जर्मनीके टैक जहा-तहा गश्त दे रहे है। ये उन्मत्त लोग अग्रेजोसे ही यह गुरुमन्त्र सीखे है। अग्रेजोने हिन्दुस्तानके हथियार छीन लिये और वे सोचने लगे कि 'अब हम कुशल से है। इनके पास हथियार नही है और हम शस्त्रास्त्रोसे लैस है। अब मनमानी हुकूमत करनेमे हर्ज

नही है। रिबनट्रॉप भी यही कहता है। जो उसका सूत्र है वही और सबका है। दीगर फुटकर भेद भले ही हो; लेकिन सूत्र एक ही है। शांतिके लिए लोगोको निःशस्त्र बना देना और व्यवस्थापकोका नखशिख सुसज्जित हो जाना—यही इंगलैण्ड, रूस, जापान, और अमेरिका इन सबकी युक्ति है।

कार्लमार्क्सने एक बडा भारी सिद्धात पेश किया है। उसे जानेके बाद गाधीजीके दिये हुए विचारकी महिमा आपके ध्यानमे आएगी। कार्लमार्क्सका नाम तो आप जानते ही है। उसकी किताबें भी आपने पढी होगी।

उसका यह सिद्धात है कि जब कोई प्रमेय ससारमें प्रसृत होता है, तो उससे कुछ फायदे होते है और कुछ नुकसान भी होता है। एकतन्त्र राज्य-पद्धति, पूजीवाद आदि किसी भी पद्धतिको ले लीजिये। जबतक लाभकी मात्रा अधिक और हानिकी मात्रा कम होती है, तभीतक वह प्रमेय टिकता है। लेकिन जब फायदेकी बनिस्बत नुकसान ही ज्यादा होने लगता है, तो एक तीसरा तद्विरोधी प्रमेय ससारमे प्रवृत्त होता है और उस पुराने प्रमेयपर आक्रमण करता है। इस आक्रमणसे एक तीसरा ही तत्व उदय होता है, जिसमें पहलेके दोनो तत्वोके गुण ही शेष रह जाते है। उदाहरणके लिए वर्णव्यवस्थाका सिद्धात ले लीजिये। समाजमे मनुष्योके भिन्न-भिन्न समूहोकी कार्य-क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। इन समूहोको उनकी विशेष भूमिकाके अनुरूप काम सौपा जाता है। इस व्यवस्थाको वर्ण-व्यवस्था कहते है। इस व्यवस्थामे गुण और दोष दोनो है। भिन्न-भिन्न शक्तियोंका भिन्न-भिन्न सगठन करना इसका गुण है और उच्च-नीच-भाव एव परस्पर-विरोध इसके दोष है। परन्तु जबतक गुणोका अश अधिक रहेगा, तबतक यह व्यवस्था बनी रहेगी। लेकिन जब उच्च-नीच-भाव और पारस्परिक हित-विरोध जैसे दोष प्रकट होकर जोर पकडने लगते है, तो उनके खिलाफ 'अभेद', 'अभेद', 'अभेद', 'साम्य', 'साम्य', साम्य', का एक ही तत्व वेगके साथ अग्रसर होता है। इन दिनोका सघर्ष होगा और उस सघर्षमेंसे एक ऐसा तीसरा तत्व उदय होगा जिसमें वर्ण-व्यवस्था और अभेदवादके भी

गुण होगे, ठीक उसी तरह जिस तरह कि हम कलमें बाधते है। नीबूपर मोसबीकी कलम बांधते है—जिससे खट-मिट्ठा सतरा पैदा होता है, जिसमें नीबू और मोसबी दोनोके गुण होते है। लेकिन यह सामाजिक क्रिया कोई योजना पूर्वक नही करता। वह अपने आप होती रहती है। एक तत्वके अन्दर छिपे हुए दोष प्रकट होने लगते है और उसीकी कोखसे तद्विरोधी दूसरा तत्व पैदा होता है। जैसा कि बुद्धने कहा है—'तदुद्भाय तमेव खादति' 'उसमेंसे पैदा होकर उसीको खाता है।' जिस प्रकार यह तीसरा तत्व अपने आप पैदा होता है, उसी प्रकार प्रतिकारका यह नया तरीका मार्क्सके सिद्धाता-नुसार इतिहासमेसे ही पैदा हुआ है। गाधी केवल निमित्तमात्र हुआ है।

आजतककी यह प्रणाली थी कि सशस्त्रोको परास्त करके हम खुद विशेष सगठित और विशेष सुसज्जित रहे। उसमेसे अब दूसरी यह प्रणाली उत्पन्न हुई कि सामनेवालेको पूरी तरह नि शस्त्र बनाकर हम खुद सशस्त्र रहे। अब उसीमेसे इन शस्त्रहीन लोगोको प्रतिकारकी यह नई युक्ति सूझी है। इस सूझका निमित्त गाधी है। वह न होता तो दूसरा कोई हुआ होता। पैतीस-चालीस करोड लोग अगर हमेशाके लिए गुलाम ही रहे, तो वे मनुष्य ही नही होगे। और अगर वे मनुष्य हो, तो उनके लिए स्वतन्त्र होनेका रास्ता होना ही चाहिए। वह रास्ता उन्हे सूझता है, इसीमे उनकी मानवता है। इस सिद्धातको 'वितर्कवाद' कहते है। सामान्य तर्कसे यह विशेष और भिन्न है, इसलिए उसे 'वितर्क' यह पारिभाषिक सज्ञा दी गई है। सबसे पहले पूर्ववर्ती तर्कका विरोधी तर्क उत्पन्न होता है, फिर उन दोनोका समन्वय होकर उन दोनोमेसे तीसरा तर्क उत्पन्न होता है—यह वितर्ककी प्रक्रिया है। यह 'वैतर्किक सरणि' मैने सक्षेपमे आपके सामने उपस्थित की है।

समचे राष्ट्रोके नि शस्त्रीकरनकी प्रक्रिया मध्ययुगके लोगोकी खोपडीकी उपज है। जिन लोगोने समूचे राष्ट्रको नि शस्त्र बनाया और ऊपरसे उसकी रक्षा की जिम्मेदारीको स्वीकार किया, उन्होने एक बडा ही खतरनाक प्रयोग किया है। अग्रेजोने हिन्दुस्तानको नि शस्त्र कर दिया है। लेकिन आज इगलैण्डके लोग जरूर महसूस कर रहे होगे कि हमने यह कोई अक्लका

काम नही किया। इसीलिए अब कहने लगे है कि "आओ, लडाईमें शामिल हो हम तुम्हे हथियार चलाना सिखाते हैं।"

लेकिन उनका यह उत्पाती प्रयोग एक दृष्टिसे बडा लाभकारी साबित हुआ। क्योकि नि शस्त्र होनेके कारण ही हम प्रतिकारके इस अनोखे शस्त्रका आविष्कार कर सके। गाधी तो केवल उसे व्यक्त करनेवाला मुख है। गाधीके रूपमे हिंदुस्तानकी सारी प्रजा बोलती है। बीस वर्षतक उन्होने इस नये शस्त्रकी महिमा लोगोपर प्रकट की। तलवारकी शक्ति भी कोई स्वतन्त्र शक्ति नही है। तलवार भी आखिर लोहा ही तो है। वह तो खदानमे पडा ही है। उसे कारीगरीसे उपयोगी आकार दे दिया गया, तो भी आखिर लोहा ही है। घडा और मिट्टी क्या अलग-अलग है ? शस्त्र जड ही है। शस्त्रके पीछे चेतन शक्ति है। इसलिए उसमे बल आ जाता है। अगर चेतन शक्ति न हो, तो वह तलवार या बन्दूक अपने आप नही चलती। तलवार या बन्दूक की शक्ति चलानेवाले पर, धारण करनेवालेपर, निर्भर करती है। पहले यह बात समझमे नही आती थी। परन्तु परिस्थितिकी प्रेरणासे गाधीके ध्यान मे यह बात आ गई कि शस्त्रकी शक्तिका आधार चैतन्य है।

नही तो हथिार होते हुए भी कैसी फजीहत होती है, इसका एक किस्सा हमारे एक मित्र सुनाया करते है। एक सज्जनके घरमे चोर घुस गये। चोरोको देखते ही उसके होश-हवास उड गये और वह चिल्लाने लगा, "अरे मेरी बम्बूक! बम्बूक! बम्बूक!!" उससे 'बदूक' शब्द भी नही कहते बना। बदूक उसके होती भी किस कामकी। हा, अगर चोर अपनी बदूक लाना भूल गये हो, तो उन्हे अलबत्ते उसका उपयोग हो सकता था।

भावार्थ यह कि शस्त्र स्वतन्त्र रीतिसे काम नही कर सकते। अगर हम नि शस्त्र न होते तो यह पृथक्करण हमारी समझमे न आता। परिस्थिति की निरपेक्ष कल्पना सहसा सूझती भी नही। ऋषियोको भी विचार और स्फूर्ति तथा प्रेरणा परिस्थितिमेसे मिलती है। गाधीको यह जो स्फूर्ति हुई उसमे उनकी बुद्धिकी कुछ विशेषता जरूर है, परन्तु उसका वास्तविक कारण भी हिन्दुस्तानकी परिस्थिति ही है।

इस शस्त्रका भला-बुरा प्रयोग हमने बीस सालतक किया और यह अनु-भव हुआ कि नि.शस्त्र होते हुए भी इस युक्तिकी बदौलत हम लड सकते है। लेकिन लोग पूछते है, "इसका क्या परिणाम निकला ?" मै कहता हू "अरे परिणामवादियो, जरा सब्र तो करो। तुमने दस हजार वर्षतक हिंसाके प्रयोग देखे है। क्या अब भी हिंसाके प्रयोग होना बाकी है ? इतने वर्षोंके बाद भी फिर नित्य शस्त्र चलाने ही पडते है न ?" छुटपनमे हम रटा करते थे। 'चटनीवाला रातदिन पीसता ही रहता है'। उसी तरह यह तलवरिये रात दिन तलवार घिस-घिस घिसते आये है। इन लोगोको इतना समय दिया इतना मौका दिया। हमे तो बीस ही साल हुए। हमे भी तो प्रयोग करने के लिए मौका दोगे ? यह भी तो देखो कि हमने बीस सालमे कितनी योग्यता प्राप्त की।

नागपुर जेलमे नित्य इसकी चर्चा हुआ करती थी। वहा जमा हुए सब 'सत्याग्रही' (!) ही थे 'मिथ्यावादी' (!) कोई नही थे लेकिन हम सोचते रहते थे कि ऐसे दिखावटी साधनोसे जो प्रयोग किया या प्रयोगका स्वाग रचा उसका भी अगर इतना असर हो सकता है, तो असली चीज प्रवृत्त होनेपर कितना प्रचड कार्य होगा ?

दस हजार सालतक हिसाके प्रयोग करते रहनेके बाद भी उसकी यह दशा है और हमारी टूटी-फूटी अहिसाका प्रयोग केवल बीस ही सालका है, तो भी हम इतना प्रतिकार कर सके। तो बतलाइये क्या हम आगेके लिए आशा नही कर सकते ? कम-से-कम इस शकाकी तो गुजाइश है कि शायद हिसा असफल साबित हो और अहिसाके मार्गसे ही बहुत-सा कार्य हो जाय। यह शका भी अगर तुम्हारे दिलमे पैदा हो गई, तो मै समझूगा कि मेरे व्याख्यानसे बहुत बडा काम हो गया।

अगर यह विचार यूरोपके गले उतर जाता, तो आजकी परिस्थितिमे हिटलरको चैन नही पडता। वह देशके बाद देश फतह करता चला गया। उधर रूस जैसे प्रतापी राष्ट्र से उलझ गया। ऐसी हलातमे भी इगलैण्डको जर्मनीपर धावा बोल देनेकी हिम्मत नही हुई। बहुतोको इस बातका आश्चर्य

हुआ। वे सोचने लगे कि जर्मनीपर हमला करनेके लिए इससे अच्छा मौका और कौन-सा हो सकता था ? लेकिन इगलैण्ड एक कोनेमें चोरी-चुपकेसे लीबियामें लडने लगा। साराश, इगलैण्ड-सरीखे बलवान्, सामर्थ्यशाली और संपन्न राष्ट्रको भी प्रतिकार करना इतना मुश्किल मालूम होता है। तो दूसरे राष्ट क्या करे ? कर ही क्या सकते है ? चुपचाप बैठें और टेंकके आते ही उसके सामने सिर झुका दे। और कुछ सूझता ही नही।

लेकिन गाधीजीने हमें यह नया हथियार दिया है। अगर प्रतिकारका व्रत लेना है तो इस हथियारके बलपर ही लिया जा सकता है। तलवारके बलपर अगर प्रतिकारकी शपथ ली जाय, तो जबतक तलवार हाथमें है, तभीतक आप उस शपथको निबाह सकेंगे। तलवार हाथसे गिरते ही व्रत खुल जायगा, उसका पारण हो जायगा, एकादशी समाप्त होकर द्वादशी शुरू हो जायगी। अन्यायके प्रतिकारकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए अहिसाका ही आश्रय जरूरी है। जो अहिसक प्रतिकारका व्रत लेगा वह पुरुष या वह स्त्री जहा खडी हो वही से प्रतिकार शुरू कर सकती है।

इसलिए आप इस सारी परिस्थितिका शातिपूर्वक विचार कीजिए। कहा जाता है कि महाराष्ट्रके लोग बुद्धिवादी और तार्किक है। महाराष्ट्रपर लगाया जानेवाला यह बुद्धिवादका आरोप अगर सही होता, तो मुझे आनद हुआ होता। लकिन मुझे दु ख है कि यह आरोप वास्तविक नही है। महाराष्ट्र एक तरहकी तामसी श्रद्धासे प्रेरित हुआ है। हम समझते है कि हमारा वह पुराना मराठी बाना और नाना फडनवीसकी परपरा हमारे खूनमे है। भाई मेरे अब वह नाना फडनवीसकी पुरानी विद्या और परपरा इस बदली हुई परिस्थिति और समयमे बिलकुल निरुपयोगी और बेकार साबित होगी। य लोग कहते है कि नाना बडा बुद्धिमान था और इसलिए उसने बडी सिफतसे राज्यकी रक्षा की। लेकिन नानाकी बुद्धिमानी इस बातमे थी कि वह भाप गया था कि अग्रेजोका आसन हिंदुस्तानमें जमनेवाला है। य लोग कहते है कि अहिंसक प्रक्रिया हमारे खूनमे नही है, हमारी विचारधारामे नही है। लेकिन ज्ञानदेव, तुकाराम आदि सतोंने जिस प्रक्रियाको गौरवान्वित

किया, वह हमारे रक्तमें नही है, यह माननेके लिए मै तैयार नही हू। लेकिन अगर ऐसा ही हो तो समझ लीजिए कि आप हमेशाके लिए पिछड जायगे। अब फिरसे आप कभी समाजका नेतृत्व नही कर सकेगे। उस पेशवाई और नाना फडनवीसकी परपराके भरोसे बैठोगे तो बैठे ही रहोगे, उठ नही सकोगे।

जिससे शस्त्रके आधारपर दुर्बल भी बलवान बन सकता है, उसे चलानेकी विद्या अगर तुम खुद सीखोगे, दूसरोको सिखाओगे तो युद्धके बाद शरीर, बुद्धि और प्राणके थके हुए लोगोका नेतृत्व सहज ही तुम्हे प्राप्त होगा।'

सर्वोदय : जनवरी, १९४२

१२
तीन मुख्य वादोंकी समीक्षा

आज मै जो कहना चाहता हू उसे कहनेके पहले थोडी-सी प्रस्तावना करनी होगी। एक मित्रकी चिट्ठी आई है। वह लिखते है, "कृपया हिंदीमे बोले"। इसमेसे 'कृपया' शब्दको मै स्वीकार करता हू। याने 'कृपया' मराठीमे बोलनेवाला हू। नागपुर-जेलमे हमारी चर्चा और व्याख्यान सदैव हिंदीमे ही होते थे। वहा जो सत्याग्रही थे उनमेसे अधिकाश हिंदी जानते थे। मराठी जाननेवाले थोडे ही थे। इसलिए उनसे हिंदीमे ही बाते और चर्चा हुआ करती थी। इस प्रकार हिंदीके द्वारा हमे एक-दूसरोके विचार ज्ञात हुए और सहवासमे आनद मालूम हुआ। फलत अब मुझे व्याख्यान देने लायक हिंदीका अभ्यास हो गया है।

लेकिन यहा मराठीमे बोलनेमे मेरी तत्व-दृष्टि है। हमे अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी अथवा हिंदुस्तानी अथवा उर्दू अवश्य सीखनी चाहिए। सभी प्रातोके लोगोको सीखनी ही चाहिए। लेकिन साथ-साथ यह भी जरूरी है कि जो

---

१. **वासुदेव आर्ट्स कालेज (वर्धा) के स्नेह सम्मेलनके अवसरपर (१४ दिसंबर, १९४१ को) दिया हुआ भाषण।**

लोग दूसरे प्रातोमे आकर रहते हैं, वे भी उन प्रातोकी भाषाए समझने और बोलने लायक सीखे। अन्यथा समूचे राष्ट्रकी सधि नही जुडेगी। मेल दोनो तरफसे होता है। विभिन्न प्रातीय भाषाभाषियोको राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए और हरएक प्रातमें रहनेवाले अन्य प्रातीयोको स्वदेशी धर्मके अनुसार दयालुतासे उस प्रातकी भाषा अवश्य सीखनी चाहिए। यह तत्त्व-दृष्टि तुम्हे उपलब्ध करानेकी कृपा करके अर्थात् 'कृपया' मै मराठीमे बोलनेवाला हू।

विद्यार्थियोके लिए हाल हीमे मेरा एक व्याख्यान हो चुका है। मै मान लेता हू कि आप लोगोमेसे अधिकतर लोगोने वह सुना होगा। उस व्याख्यानमे मैने एक विचार पेश किया था। वही विचार मै सब जगह उसी भाषामे पेश किया करता हू। कारण मेरे दिलमे वह उसी भाषामे जम गया है। वह विचार यह कि सपूर्ण स्वतत्रता पर अगर किसीका अबाधित और निरकुश अधिकार हो सकता है तो विद्यार्थियोका। दूसरोके लिए बधन होते हे और वे उचित भी होते है। परतु विद्यार्थीको कोई बधन नही होना चाहिए। इस अधिकारका अमल अगर अबतक शुरू न किया हो, तो आज शुरू करो। विद्यार्थी एक हैसियत है। उस हैसियतको लक्ष्य करके मै बोल रहा हू, विद्यार्थी व्यक्तिकी दृष्टिसे नही। एक व्यक्तिके नाते उसे अनेक बधन होना सभव है। लेकिन विचार या सत्यका शोध करते समय सपूर्ण और केवल विद्यार्थीकोही हैसियत होनी चाहिए। अमुक विद्या इसलिए ग्राहय नही है कि उसे अमुक महात्मा, गुरु या सत सिखाता है। 'यह सतवाणी है, यह हमारे पथकी वाणी है', इसलिए प्रमाण है, इस तरहका बोझ ज्ञानार्जनके विषयमे या विचार बनाने के विषय मे उसके ऊपर नही होना चाहिए। विद्यार्थी-व्यक्तिपर पुत्र, मित्र, शिष्य या दूसरी हैसियतसे अनेक बधन लागू हो सकते है। पर विद्यार्थीके नाते ही तुम्हारा अधिकार है। यह बहुत महत्वपूर्ण, बिलकुल मूलभूत, अधिकार है। सपूर्ण स्वतत्रता इस मूलभूत अधिकारकी अगर तुम अवहेलना करोगे या अवहेलना होने दोगे, तो सच्ची विद्या प्राप्त होनेकी आशा नही रहेगी।

आजकल जर्मनी, रूस इत्यादि सभ्य राष्ट्रोमें इतिहास, सस्कृति, व्यापार, भूगोल, इत्यादि सिखानेके बहाने विद्यार्थियोका यह अमूल्य अधिकार छीन

लिया गया है। गणेशजीकी मूर्ति बनानेवाला आजका शौकीन मूर्तिकार यह भूल जाता है कि 'गणपति' नामक एक तत्त्व है और मिट्टीको मनमाना आकार दे देता है। मूर्तिकार समझते है कि गणपतिकी प्रतिमा बनाना हमारे हाथकी बात है। इसलिए उसे अपनी मर्जीका आकार दे देते है। कोई उसके हाथमें त्रिशूल और बल्लम दे देते है, कोई चरखा देते है और कोई तो उसे सिगरेटका चस्का लगा देते है। इस तरह बेचारे गणेशजीकी मिट्टी पलीद की जाती है। वही हाल विद्यार्थियोका होनेवाला है। सयाने विद्यार्थी इसके लिए तैयार नही थे; आज भी नही है। तुम्हे ऐसी दुर्दशा सहनेके लिए हरगिज तैयार नही होना चाहिए। जर्मनीमे क्या होता है ? 'विद्यार्थीको कौनसी विद्या सिखाई जाय, कौन-से-ढाचेमे ढाला जाय', यह सरकार तय करती है। विचा और गुणोका नियत्रण तथा नियमन सरकार करती है। सरकारको जो विकार और विचार इष्ट जान पडते है, उन्हे भिन्न-भिन्न विद्यार्थियोके मगजमे ठूसनेका अमोघ साधन माने शिक्षक। सरकारके इष्ट विचारोकी दृष्टिसे शिक्षणकी योजनाए बनती है। ऐसी ज्यादतिया अगर तुम सह लोगे तो तुम्हारा, हमारा और ससारका बुरा हाल होगा। पूजीवादी राष्ट्र इस प्रकार की योजनाए बनाया करते है। उनका पूरी तरह विरोध करना हमारा—विद्यार्थियोका—फर्ज है।

यह पहली बात है। यह उस ऋषिके ध्यानमे आया। इसलिए उस वैदिक ऋषिने कहा। क्या कहा उसने ? "मेरे प्यारे शिष्यो, तुम बारह वर्षतक मेरे पास रहे, विद्या सीखे, लेकिन तुम मुझे अपना आदर्श न मानना। सत्यकोही प्रमाण मानो। मेरी कृतियो या शब्दोको प्रमाण मत मानो। मेरे शब्द और आचरण सत्यकी कसौटीपर परखो। जो खरे उतरे उनको स्वीकार करो। जो घटिया ठहरे उन्हे छोड दो। सत्यकी कसौटी हरएककी बुद्धिके लिए सहजगम्य है। उसे काममे लाओ।—'**यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्व योपास्यानि नो इतराणि**' उस ऋषिने कहा, 'हमारे केवल अच्छे चरित्र अपनाओ, बुरोको छोडो।' क्योकि वह यथार्थ ज्ञानदाता गुरु था। उसका बतलाया तत्त्व नवीन नही है। लेकिन उसका अमल नही होता। इसलिए

अतिशय दयालु गुरु के नाते ऋषिने विद्यार्थियोको यह सदेश दिया। उसे खूब याद रखिए। अपना विचार-स्वातन्त्र्य का यह मूलभूत अधिकार अक्षुण्ण रखिए। उसे गवाइये नही।

मैने कहा कि स्वतत्र-बुद्धि विद्यार्थीका पहला और मुख्य लक्षण है। स्वतत्र बुद्धि माने वह बुद्धि जिसपर कोई दबाव नही है। वही सत्याग्रहीबुद्धि है। इस बुद्धिके द्वारा तुम ससारकी तरफ देखो। तुम्हे अनत चमत्कार दिखाई देगे। बुद्धिसे उन्हे समझो। इस युगमे खोखला भेजा रखनेकी गुजाइश नही है। अगर तुम अपने सुनिश्चित और पक्के विचार नही रक्खोगे तो उसमे किसी दूसरेके विचार घुस जायगे। आजकी दुनिया कहती है, 'दिमाग खाली नही रहना चाहिए। उसमे कुछ-न-कुछ भरना ही चाहिए।' सद्विचार भरो। और अगर सद्विचार नही भरना है तो आलू भरो, पत्थर भरो, जो चाहे सो भरो। इस-युगकी यह प्रतिज्ञा है कि तुम्हारा सिर खाली नही रह सकता। खुद विचार न करोगे तो वह रेडियो रेक-रेककर तुम्हारी खोपडीमे विचार ठूसता है। समाचारपत्र विचार करनेको बाध्य करते हैं। बिना विचारका दिमाग रखना सभव नही है। इसलिए सत्याग्रही बुद्धि रक्खो। सद्विचार करो। सद्विचारोकी दृढ करना और सचित करना, यही एक रास्ता है। अगर तुम कहोगे कि मै विचार नही बनाऊगा, तो लोग तुम्हे बनायेगे। बनो मत। दुनियाके हाथोमे महज मिट्टी बनकर न रहो।

आजकी दुनियामे उदासीन रहना असभव है। केवल एकातमे अध्ययन करनेकी गुजाइश नही है। समाजशास्त्रके विचार और अध्ययनके बिना गति नही है। उसके बिना किसी भी विषयका अध्ययन नही हो सकता। इतिहास, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्रका अध्ययन तो हो ही नही सकता। लेकिन गणित जैसे स्वतत्र और तटस्थ विषयका अध्ययन भी समाजशास्त्रके बिना नही होता। साधारण नीति, गणित, साधारण विज्ञान, भौतिकशास्त्र— किसी भी विषयका विचार समाजशास्त्र-निरपेक्ष करना सभव नही है। मानो समाजशास्त्रमेसे ही ये सारे शास्त्र निकले हो। इसलिए नित्य जागरूक रहकर विधायक विचार करना नितांत आवश्यक है।

आज संसारमें तीन बहुत बडे विचार-प्रवाह पाये जाते है । पहला 'फासीवाद' और 'नासीवाद' है---दोनो वस्तुत एक ही है । एक जर्मनीमे पैदा हुआ और दूसरा इटलीमे । वह किसी-न-किसी रूपमे सारे ससारमे है । हमारे हिन्दुस्तानमे भी है । दूसरा साम्यवाद है । समाजवाद इत्यादि उसके पेटमें है । यह वाद रूसमे प्रवृत्त हुआ और दुनिया भरमे फैला । तीसरा महात्मा गाधीका विचार है । ये तीन ही यथार्थ विचार-प्रवाह है । इग्लैंड, अमेरिका आदिके विचारोकी विचारकी दृष्टिसे कोई गिनती नही है । गिनती करनी हो तो ये 'फासी-नासी' के ही भाईबद है । विजय किसीकी भी हो, विचारकी दृष्टिसे इनमे कोई दम नही है । इसलिए इनकी गिनती करनेकी जरूरत नही है । इनके विचार नष्ट होने वाले है । इनकी विजय भी हो जाय तो वह उसी तरहकी होगी, जैसे कि बुझनेके पहले एक क्षणके लिए चिरागका बडा होना । अतमे इनका विचार नष्ट होनेवाला है ।

इन तीनो वादो की प्रगति हमारे सामने है । उनका तुम तटस्थभावसे खूब अध्ययन करो । इनमेसे गाधीवादका तो उदय करीब-करीब हिदुस्तानमे ही हुआ है । 'करीब-करीब' इसलिए कहा कि दूसरे देशोके विचारको ने भी इस तरहके विचार व्यक्त किये है । प्राचीनकालमे कुछ व्यक्तियोने प्रयोग भी किये है । लेकिन इस सिद्धात को साकार बनाकर उसे सगुण रूप देकर उसके प्रत्यक्ष प्रयोग गाधीने ही और राष्ट्रीय पैमानेपर हिदुस्तानमे ही किये है । इसलिए 'करीब-करीब' कहनेमे हर्ज नही है । गाधीके प्रयोग के लिए हिंदुस्तानमे अनुकूल परिस्थिति और वातावरण था ।

दसरे दो वाद यूरोपमे पदा पैदा हुए—साम्यवाद और नाजीवाद । ये क्यो और कैसे पैदा हुए, इसका विचार हम करना चाहिए ।

मैंने अपने जीवनके विषयमे एक न्याय (नियम) बनाया है । वह आपके सामने रखता हू । वह न्याय है—'इद्राय-तक्षकाय स्वाहा' । सापोसे तकरार हो जानेके कारण एक ब्राह्मणने सापोका यज्ञ किया । उसमे बहुत-से सापोंकी

आहुतिया दी। लेकिन तक्षक इद्रके आसनके नीचे जा छिपा। इधर ब्राह्मणने कहा, 'तक्षकाय स्वाहा', लेकिन तक्षकका पता नही। तब तो ब्राह्मणने सूक्ष्मदृष्टिसे खगोलका निरीक्षण किया। उसे पता चला कि तक्षकके इद्राश्रित होनेके कारण आहुति व्यर्थ गई। इसलिए उसने कहा, 'इद्राय-तक्षकाय स्वाहा'। ब्राह्मणने उद्दडतासे दोनोकी आहुतिका सकल्प पढा। पृथक्करणका कष्ट नही किया। लेकिन इद्र तो अमर ठहरा। इसलिए उसकी आहुति होना असभव था। ब्राह्मणने पृथक्करणकी झझटसे बचना चाहा, इसलिए इद्रके साथ तक्षक भी अमर हो गया।

ऐसा कोई भी वाद नही जिसमे एक-न-एक गुण न हो। अगर हम किसी वादको सर्वथा दुष्ट या दोषयुक्त करार देकर उसके गुणोका भी त्याग करे तो वह वाद अमर हो जाता है। यदि किसी वादके गुणदोषोका पृथक्करण न किया जाय तो दोषोसे भरा हुआ वाद भी पनपता है। इसलिए हरएक वादमे जो गुण हो, उन्हे जान लेना जरूरी है। जिसमे गुण ही न हो, ऐसा वाद ही नही है। इसीलिए नाजीवादको सर्वथा दुष्ट करार देनेसे वह जोर पकडता है और पनपता है। हम उसके गुणोको नही देख सकते और न साम्यवादके ही सत्यका अन्वेषण होता है। किसी भी वादके सिर्फ दोष ही देखनेसे वह खडित नही होता।

अगर हम हरएक वादका गुण अपना ले तो फिर उस वादमे स्थायी रहने लायक कुछ नही बचता। इस दृष्टिसे हम नाजीवादके गुणकी खोज करे। नाजीवाद एक प्रकारके पूर्व-अभिमानपर स्थित है। प्राचीन परपरा और पूर्व-इतिहासके अभिमानपर अधिष्ठित है। "हम जर्मन लोग श्रेष्ठ है। हमारे इतिहासमे भव्यता है। इसलिए परमात्मा या कालात्माने एक बडे महत्वका कार्य हमे सौपा है। हम अपनी पुरानी सस्कृतिका रक्षण और पोषण करके ही उस कर्तव्यको पूरा कर सकेगे। इसलिए इस जर्मन वशको अक्षुण्ण रखना चाहिए। हमारे अदर श्रेष्ठ गुण है। इसीलिए तो यह महत्कार्य हमारे सिपुर्द किया गया है। व्यक्तिकी तरह समाज और राष्ट्रमे भी विशेष गुण पाये जाते है। ये हमारे विशिष्ट गुण हमारा अपनापन, हमारा निजत्व है। हमारी

सस्कृति शुद्ध है। हम शुद्धरक्तके, शुद्ध बीजके, शुद्ध विचारके जर्मन लोग ही यह कार्य पूरा करनेके योग्य है। शुद्ध याने पूर्व परपरासे प्राप्त। मेंढकको मेंढकोकी परपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। सापको सापोकी परपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। शेरको शेरोकी परपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। उसी प्रकार हमे हमारी परपरासे मिले हुए विशिष्ट गुण ही हमारी सस्कृति है। इसलिए हमे जर्मनवशका अभिमान रखकर अपनी परपराकी रक्षा करनी चाहिए।"

नाजीवादमे दूसरे दोष होगे, लेकिन यह एक बडा आकर्षक गुण है। हाँ, आकर्षक होते हुए भी वह सर्वथा ग्राह्य नही है। पूर्वपरपराका सातत्य बनाय रखना, उसका धागा टूटने न देना, सस्कृतिकी परपरा अविछिन्न रखने के लिए अपने पूर्वजोकी सस्कृतिके प्रति आदर तथा प्रेम रखना—यह उसका वास्तविक ग्रहग्राश है। वशाभिमान रक्षण करने-जैसी वस्तु नही है।

इसके विपरीत साम्यवादमे दूसरे ही प्रकारका गुण है। वह देखता है कि सारी दुनियाके गरीब उत्तरोत्तर अधिक गरीब होते जाते है और अमीर ज्यादा अमीर। गरीबोके पेटकी खाई गहरी होते-होते प्रशात महासागरके बराबर हो गई है और श्रीमानोके धनकी पहाडी ऊँची होते-होते हिमालयके सदृश हो गई है। यह अतर सहा न जानेके कारण साम्यवाद पैदा हुआ। वह कहता है कि बहुमतके नामपर आज जो प्रणाली जारी है, वह यथार्थ लोकसत्ता नही है। सिर गिननेकी लोकसत्ता सच्ची लोकसत्ता नही है। क्योकि ऐसी लोकसत्तामे गरीबोके सिर श्रीमानोके हाथमे रहते है। इसलिए गरीबोके मतदानका कोई मूल्य नही। जबतक श्रीमतोका नाश नही होगा, दोनोको समान अधिकार प्राप्त नही हो सकते। मौजूदा मतदान-पद्धति सिर्फ आकारमे लोकसत्ताके समान है। हम आकारमे नही, अपितु प्रकारमे भी लोकसत्ता स्थापित करना चाहते है। वह पक्षपातहीन लोकसत्ता होगी। आज यदि निष्पक्ष रहना हो तो गरीबोका पक्षपात करना ही होगा। आजतक समान-अधिकारके नामपर श्रीमानोकी प्रतिष्ठा खूब बढाई गई। समत्व, न्याय और समान-अवसरका स्वाग रचा गया। समान-अवसर माने गरीबोकी पिसाई। गामा पहलवान और लकडी-पहलवानकी कुश्ती तब कराकर दोनो को

समान-अवसर देनेका दम भरा जाता है। गामा पहलवानकीजीत निश्चित है। पहले गरीबोंका उद्धार कीजिए; बादमे समान-अवसर आदि सिद्धातोकी बात कहिए। गरीबोके उद्धारके लिए चाहे जैसे साधनका प्रयोग करना पाप नही है। इस प्रकार साम्यवादमे गरीबोके प्रति पराकाष्ठाकी आस्थाका गुण है।

इस प्रकार दो गुणोकी बदौलत ये दो वाद ससार और हिन्दुस्तानमें फैल रहे है। हमारे महाराष्ट्रमे भी फैलना चाहते है। मै महाराष्ट्रके ही विषयमें बोलता हू। क्योकि अगर मै महाराष्ट्रके दोष दिखाऊ तो वह मेरा प्रात होनेके कारण, गलतफहमी नही होगी। महाराष्ट्रमे 'हमारा महाराष्ट्र धर्म' 'हमारी पेशवाई' (पेशवाशाही), हमारा 'मर्द मराठा सिपाही', 'हमारी सस्कृति', 'हमारे समर्थ (रामदास) और उनकी बजरगबलीकी उपासना', आदि भावनाओको जो प्रोत्साहन देता है, उसके प्रति तरुणोंमें आकर्षण पैदा होता है। इसी कारण महाराष्ट्रके तरुणको हिंदू महासभावालो के विचार पसद आते है। वह उन विचारोमे प्राचीन इतिहासके अभिमानका बहुत बडा गुण देखता है। दासनवमी (श्रीरामदास जयती); हनूमान जयती, भीष्माष्टमी, शिवाजी-उत्सव आदिसे प्रेरणा और आवेश मिलते है। अत उस पक्षमे दूसरे कितने ही दोष क्यो न हो तो भी वह तरुणोको आकर्षक प्रतीत होता है। उसमे पूर्वपरपराके अभिमानका गुण है।

मुसलमानोमे यही विचार मुस्लिमलीगने फैलाया—'इस्लाम कितना वैभवशाली था, हिंदुस्तानमे किसी समय उसका साम्राज्य किस प्रकार था', इत्यादि। पूर्वपरपराके अभिमानका गुण उसमे है।

इस प्रकार हिंदूसभा और मुस्लिमलीगका कार्य नाजी-परपराका है। वे जब आपसमे खुलकर बोलते है, तब कभी-कभी यह बात मान लेते है। आम तौरपर नही बोलते। लेकिन उनकी सहानुभूतिका स्थान वह है। शपथविधि, गुप्तता, आदि सारे लक्षण विद्यमान है। वह हरा झडा, वह कुरानकी कसम, वह हनूमानजीकी साक्षी, वह शपथ, वह ध्वज—यह सारा देखकर एक तरहका उत्साह मालूम होने लगता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि ये लोग हमे बिलकुल ही गलत रास्तेसे नही ले जा रहे है– पूर्वजोंके

परिचित मार्गसे ले जा रहे है। इस भावनाके आधारपर ये नाजी-सप्रदाय हिंदुस्तानमें बढे हैं।

हिंदुस्तानकी गरीबी उपनिषत्‌के ब्रह्मके समान है, उसकी कोई उपमा या तुलना नही है। ब्रह्मके समान 'वह एकमेवाद्वितीय' हैं। इसलिए गरीबोके लिए आस्था और अमीरोके प्रति चिढ रखनेवाला साम्यवाद आर्षक मालूम होता है और फैलता है।

इस तरह दो भिन्न कारणोसे ये दो भिन्नवाद आकर्षक हो गए है। पूर्व-परपराके अभिमानकी बदौलत नाजीवाद आकर्षक हो उठा हैं। हिंदू और मुसलमानोको अभिमानका स्थान दिखाकर वह हिंदुस्तानमे फैला है। दरिद्रताके कारण साम्यवाद आसानीसे गले उतरता है। मै दोषाविष्करणके उद्देश्यसे इन वादोकी समीक्षा नही करता। क्योकि हमे केवल उनके गुण ही देखने हैं।

अब तीसरे वादकी समीक्षा करता हू। वह गाधीने उपस्थित किया है। हमे उसके रूपको भलीभाति समझ लेना चाहिए। कुछ लोग समझते है—यह बेचारा गुजराती 'सामलूभाई' (ढीलाढाला, पिलपिला आदमी) ठहरा। इसका क्या 'वाद-आद' हो सकता है। ये बेचारे गुजराती डरपोक, गाय-जैसे सीधे, सापको भी न मारनेवाले लोग है। इन्होने व्यापारके सिवा और कुछ नही किया है। तलवार कभी उठाई नही है। उस परपराका यह 'सामलू' है। उसका वाद उसी तरहके लोगोको जचेगा।

लेकिन मै तुमसे कहता हू कि बात ऐसी नही है। अगर ऐसी बात होती—याने इस वादमे डरपोकपन और 'सामलूपन' होता—तो एक महाराष्ट्रीके नाते मैंने उसे कभीका फेक दिया होता। 'सामलूपन' कडआ, मीठा, खट्टा, चाहे किसी भी तरहका क्यो न हो, मै तुमसे उसकी सिफारिश नही करूगा।

परतु मै कह चुका हू कि वस्तुस्थिति वैसी नही है। तुम जाच-पडताल कर देख लो। अगर इस वादकी जाच तुम नही करोगे तो मै कहूगा कि तुम विद्यार्थी बुद्धू बन चले हो। दूसरा आरोप नही करूगा। सिर्फ 'बुद्धू' कहूगा।

हिंदुस्तान आज डेढ सौ वर्षोंसे नि.शस्त्र है। न शस्त्र-शक्ति है, न द्रव्य-शक्ति ही रह गई है। इस तरह यह एक केवल शक्तिहीन राष्ट्र था। इस राष्ट्रके सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि वह कमर सीधी रखनेकी शक्ति कैसे हासिल करे। इस विषयमे विचार-मथन शुरू हुआ। शस्त्र और द्रव्य दोनो तरहकी शक्ति गायब हो जानेके बाद भी क्या कमर सीधी रह सकती है? क्या अपनी पूर्वपरपरापर कायम रहते हुए यह सिद्ध हो सकता है? इस तरहके विचारका मथन शुरू हुआ। चालीस करोड लोगोमे सीधे खडे होनेकी शक्ति निर्माण करनी है।

किसीने समझा पाश्चात्योका अनुकरण करना चाहिए, उनकी विद्या सीखनी चाहिए। किसीकी रायमे धर्म-सुधारसे ही हमारी उन्नति होगी। धर्म-सुधारकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिए ब्राह्मणसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थिऑसाफी आदि सस्थाए स्थापित हुई। ये सारे समाज ऊपरसे धार्मिक भले ही प्रतीत होते हो, उनकी जडमे दूसरी ही बात थी। 'हमारी द्रव्यशक्ति और शस्त्रशक्ति जाती रही, अब हम बुद्धिशक्तिके बल सीधे कैसे खडे हो सकेगे?'—यह वृत्ति उन सबके पीछे थी।

बुद्धि-शक्तिकी प्राप्तिके लिए ही शिक्षण-विषयक सुधार शुरू हुए। बुद्धि-शक्ति ही एकमात्र आशा रह गई थी। इसलिए गाधीके पूर्वकालमे धर्म-सुधारके साथ शिक्षण-सुधार जोड दिया गया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, देवेद्रनाथ ठाकुर, रानडे, रविबाबू, अरविन्द प्रभृतिने बुद्धिके जोरपर आगे आनेका यत्न किया। जब शस्त्रकी ताकत न रही, द्रव्यकी ताकत न रही तो और क्या करते?

शिक्षण-विषयक सुधारमे अग्रेजी विद्याका अनुसरण शुरू हुआ। तब दूसरा एक पक्ष सामने आया। वह कहने लगा, "हमे अग्रेजीकी उपासना नही चाहिए। प्राचीन विद्याओको गति देकर नवीन स्वरूप दो।" इस विचारके अनुसार गुरुकुल आदि सस्थाएँ खुली। उसमेसे तीसरा आदोलन राष्ट्रीय शिक्षाका निकला। प्राचीन सस्कृत विद्या और नवीन विद्यासे लाभ उठानेका यह प्रयत्न था। ऐसा माना जाने लगा कि पुनरुज्जीवन और सुधारका शिक्षण

ही राष्ट्रीय शिक्षण है। लेकिन तीनो प्रकारोके मूलमे विचार एक ही था। वह यह कि बुद्धिके द्वारा शक्ति निर्माण करेगे। शक्ति निर्माणके तीन द्वार है—धन, बल और बुद्धि। लक्ष्मी और शक्तिके दरवाजे प्राय बन्द हो गये। तब अग्रेजोसे टक्कर लेनेके लिए तीसरा विद्याका ही द्वार बाकी रह गया। इस विचारसे यह आदोलन शुरू हुआ। कई सुधारकोने उसमे भाग लिया।

लेकिन बुद्धिमे शक्ति कैसे आवे ? बुद्धिका क्या स्वतत्र पोषण होता है ? क्या आचारहीन बुद्धि शक्तिशालिनी हो सकती है ? निराचार बुद्धि शक्तिशाली नही हो सकती। जबतक बुद्धि आचारमे परिणत करनेकी प्रक्रिया सिद्ध नही होती, तबतक स्वतत्ररूपसे बुद्धि शक्तिशाली नही होती। जब यह ध्यानमे आया, तब काग्रेस स्थापित हुई। उसके पहले बुद्धिमान लोग कहने लगे कि, "आओ, हम गरीबोकी शिकायते दूर करनेके लिए अपनी बुद्धि काममे लाये, अर्थात् उसे सक्रिय बनाये। लेकिन शिकायते पेश करके उनका निराकरण कराने का प्रयत्न एक मर्यादा तक ही सफल होता है। पूर्ण सफल नही होता। अव्यक्त शिकायते व्यक्त हो जाती है। लेकिन बुद्धि जबतक क्रियात्मक नही होती, तबतक सफल नही होता। इसलिए काग्रेस शिकायतें तो पेश करती थी; लेकिन उसकी बात हवामे उड जाती थी। उसका प्रयत्न सफल नही होता था। क्यो नही होता था ? इसलिए कि शिकायतोके दूर होनेकी सभावना नही थी। सो कैसे ?—इसलिए कि सारी शिकायतोका मूल कारण, शिकायतोकी शिकायत, परतत्रता ही है।

यह बात काग्रेसके ध्यानमे आ गई। सहज ध्यानमे आनेवाली है। मनुष्य और सब डालिया काट सकता है, लेकिन जिस शाखापर वह खडा हो उसे नही काट सकता। अग्रेज सरकार कई सुधार कर सकती है। लेकिन उसकी सत्ता अकेली हमारी गुलामीकी डालपर खडी है। उस मुख्य शाखाको वह कसे तोडेगी ? तुम बुद्धिवाद करके कितना ही समझाओ, जैसे उन्होने मुझसे कहा 'कृपया हिदी में बोलिए', उसी तरह तुम भी कहो, 'कृपया इतनी शाखा तोड़िए', तो वह कैसे सुन सकती है ? वह कृपा उसकी जान ले लेगी। सरकार फुटकर टहनिया तोड़ेगी। कहेगी "कहतमें मदद करेंगे, मराठी-हिंदीको

विश्वविद्यालयोंकी परीक्षाओमे स्थान देंगे; लेकिन मुख्य शाखाको हाथ न लगाइए। 'स्वतत्रताकी जय' न बोलिए, 'अग्रेज सरकारकी जय' बोलिए।''

बात लोगोके ध्यानमें आ गई। जिस शाखापर अग्रेजोकी सत्ता खडी है, उसे काट डालिए कहनेसे सरकार कैसे काटेगी ? यह बात ध्यानमे आनेपर सवाल यह हुआ कि अब क्या करे ? तब पता चला कि शक्तिसे ही राज्य मिलते हे और युक्तिसे यत्न होता है। मतलब, शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। गुप्तरूपसे कार्य करना ही युक्ति है, ऐसा समझा जाने लगा। अब, 'अधिकारियोको मारे, षड्यत्र करके बम बनावें'—इस प्रकारके विचार शुरू हुए। अफसरोके खून हुए। यह सब शुद्ध बुद्धिसे हुआ। जिन लोगोने बमका प्रयोग किया उनका स्मरण में भी पवित्र मानता हू।

लेकिन उन्हे क्या अनुभव हुआ ? बम बनानेके लिए पैसोकी जरूरत है। शिवाजी महाराजने भी षड्यत्र किये। उन्हे भी साधन जुटाने पडे। उसके लिए सूरत शहर लूटना पड़ा। मराठोंने बगालमे डाके डाले। अब ये लोग भगवद्गीताकी दुहाई देकर सद्भावनासे डाके डालने लगे। लेकिन पहलेसे ही जो पेशेवर गरीब लुटेरे थे, वे भी डाके डालने लगे। इनकी अपेक्षा वे निपुण थे। उन्होंने ज्यादा डाके डाले। लेकिन इसका लोगोको कैसे पता चले ? लोग कैसे जाने कि कौन-सा डाका किसका है ? बकरा क्या जाने कि छुरी किसकी है ? उसे क्या पता कि उसकी गरदन काटनेवाली छुरी उसे यज्ञके लिए मारनेवाले ब्राह्मणदेवताकी है, या मास बेचनेवाले कसाईकी ? लोग डाकोको पहचान न सके। 'हमे बचाओ' इतना ही कहने लगे। इसलिए सरकारकी अच्छी बन आई। अराजक और डाकूमे फर्क न कर सकनेकी वजहसे बमोका मार्ग बेकार हुआ।

बादमे महात्मा गाधी आए। उन्होने कहा, ''अराजकोका पथ तो ठीक है; लेकिन पद्धति सही नही है। मुख्य शाखा ही तोडनी चाहिए। इसलिए उनका पथ उचित है। लेकिन वह हिंदुस्तानमे हिंसासे हो नही सकता।'' संसारमें कही नही हो सकता। संगठित हिंसापर रची हुई यह प्रक्रिया जब व्यापक परिणाममें आजमाई जाय, तभी सफल हो सकती है। आजकी

सरकारे अत्यन्त संगठित और व्यापकतम हिसाकी सरकारे है। उतना व्यापक हिसक सगठन प्रजा नही कर सकती। इसलिए उसकी हिसा किसी कामकी नही साबित होती। प्रजाके हिसक सगठनमेसे शक्ति निर्माण नही होती। बहुत हो तो राष्ट्र प्रेमकी प्यास बुझती है। कुछ-न-कुछ करनेकी तमन्ना शात होती है। व्यक्तिगत सतोष मिलता है। लेकिन सगठनके लिए यह पद्धति उपयोगी नही है। राष्ट्रीय उत्थानकी दृष्टिसे कार्यक्षम नही है।

इसलिए गाधीने कहा, "आम जनताका खुले तौरपर सगठन करनेकी मेरी पद्धति ही परिणामकारक ठहरेगी। सरकार स्व-सत्तापर नही टिकती। लोगोसे मिली हुई सत्तापर टिकी हुई होती है। उसे लोगोके आधारकी जरूरत होती है। सरकार और लोग, इन दोनो हाथोसे राज्यकी ताली बजती है। आप अपना हाथ हटा लीजिए, उसका हाथ अपने-आप ढीला पड जायगा। लोग अपनी दी हुई सत्ता हटा ले तो सरकार नही टिक सकती। इस प्रकारके सगठन-द्वारा ही हम प्रतिकारकी शक्ति निर्माण कर सकेगे।"

हिंदुस्तान इतना बडा चालीस करोडका राष्ट्र कैसे बना? हमारी पूर्वपरपराके गुणकी बदौलत इतना बडा राष्ट्र बना। यह हलका-पतला राष्ट्र नही है। हमारे परमपूज्य राष्ट्र-कवि रवीद्रनाथ ठाकुरने भारतको **'एइ भारतेर महामानवेर सागरतीरे'** कहा है। सारी दुनियासे आ-आकर लोग यहा बसे है। सभी तो आक्रमण करके जबरदस्ती आकर नही बैठे है। हमने उन्हे जान-बूझकर आश्रय दिया। पारसियोने आक्रमण नही किया था। हमने समझ-बूझकर उन्हे जगह दी। हमारे राष्ट्रकी मर्यादाकी एक पुरानी परपरा है—हम दूसरोको अवसर दे सकते है और दूसरोपर आक्रमण नही करते।

इस परपरामेसे गाधीको यह विचार मिला। हमारे पास प्रतिकारका शस्त्र है। शस्त्र माने शासन या नियमन करनेवाला। यह अर्थ हाथपर घटित होता है। हथियार तो शस्त्र ही नही है। वह औजार है, जड वस्तु है। वह स्वतत्र चीज नही है। उसकी दरकार नही।

हिंदुस्तानकी महान् आवश्यकता, उसके इतिहासकी एकमात्र माग, पूरी करनेके लिए विचार उत्पन्न हुआ। इसीलिए वह फैला। ससारमे इतरत्र अहिसाको स्थान नही है। हिदुस्तानमे तरुण भी इसकी चर्चा करते है कि राष्ट्रीय व्यवहारमे हिसा बडी है या अहिसा? अहिसाके मार्गपर यह बहुत बडी प्रगति है। हम यह नही कहते कि सब-के-सब फौरन अहिसावादी बन जाए। सबको विचार ही करना चाहिए। आज तरुणोने भी हिसाका नये सिरेसे विचार शुरू किया है, यह सच्ची प्रगति है। इससे अधिक तेजीसे गाधीका विचार फैलना मुमकिन नही था। फैलना भी नही चाहिए। धीरे-धीरे, विचार करनेके बाद, सोच-समझकर ही उसको स्वीकार होना चाहिए।

यह विचार-धारा हिदुस्तानकी पूर्वपरपरामेसे पैदा हुई है या नही? मेरा मतलब हिंदुस्तानकी मुख्य पूर्वपरपरासे है, फुटकर प्रवाहोसे नही। हिदुस्तानमे परपराके बहुत-से फुटकर प्रवाह है। मराठोकी, राजपूतोकी, सिक्खोकी, ऐसी कई परपराए है। लेकिन असख्य धर्मों और जातियोको एकत्र रखनेवाली जो परपरा है, वही मुख्य परपरा है। उसीमे से इस विचारका निर्माण हुआ। उस परपराका अभिमान धारण कीजिए।

इस प्रकार नाज वादका तत्त्व, अर्थात् उसका गुण, भी इस विचारसे भलीभाति मेल खाता है। जेलमे मैने इस परपराका विचार किया। महाराष्ट्र और हिदुस्तानका विचार किया। ठेठ वेद-कालसे लेकर आजतक सारे भारतके इतिहासमे जिन-जिन व्यक्तियोने क्राति की, उनका विचार किया। शक, हूण, द्राविड, आध्र, मुसलमान प्रभृतिमे हुए क्रातिकारक व्यक्तियोका इतिहास देखा। उसमे महाराष्ट्रकी परपरा इतनी छोटी ठहरती है, ब्राह्मणोकी इतनी क्षुद्र ठहरती है कि उनका अलग विचार करनेकी जरूरत नही। हिदुस्तानकी परपरा एक महान् वटवृक्षकी परपरा है। उस वटवृक्षका आश्रय करनेके बदले उसकी शाखाए काटकर सिर फोड लेना उदात्त अभिमानका लक्षण नही है। हिदुस्तानकी परपरा हिदू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, जैन, बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सबके श्रेष्ठ शास्त्रकारोकी और

असंख्य साधुसतोकी परपरा है। अगर मै इस परपराको छोडूगा तो अपने राष्ट्रका तेजोबध करूगा; राष्ट्रको खस्सी करूगा, इसके विषयमे मुझे सदेह नही रहा।

इस अर्थमें नाजीवादका पूर्वसस्कृतिके अभिमानका गुण भिन्न स्वरूपमे गाधीवादमे है। लेकिन उसका स्वरूप इतना भिन्न है कि उसमें नाजीवादके वशाभिमानका दोष नही है। हमारी पूर्वपरपरा व्यापक है। इसलिए उसका अभिमान भी करीब-करीब विश्वव्यापी है। उस पूर्वपरपराका सातत्य बनाये रखनेका, उससे अनुसधान रखनेका, गुण गाधीवादमे है। वह 'नाजीवाद'के पूर्वपरपराके अभिमानके सदृश है। उतना ही आकर्षक भी है। लेकिन 'नाजीवाद'के वशाभिमानकी सकुचितता उसमे नही है। इसलिए उसे अभिमान भी नही कह सकते। प्राचीन कालके सास्कृतिक प्रयत्नोंसे अनुसधान रखना ही उसका मुख्य लक्षण है।

कुछ साम्यवादियोकी यह भाषा कि गरीबोका उद्धार करना चाहिए, गलत है। 'गरीबोका उद्धार करनेवाला, उन्हे उबारनेवाला, मै अलग हू, यह भावना उसमे छिपी हुई है। 'अगर मै उन्हे न बचाऊ, तो उनका उत्थान नही हो सकता', यह मिथ्या अभिमान उसमे है। गरीबोका उद्धार उन्हीके हाथोमे है। गाधीने आम जनताको ऐसी शक्ति प्रदान की है। साम्यवादने रूसमे जो किया, वह यहा नही हो सकता। रूस सरीखी सुविधा यहा असभव है। और न आवश्यक ही है। कारण उससे गरीबोको शक्ति नही मिलेगी। गरीबोका उद्धार गरीबोके ही द्वारा होना चाहिए। यह साम्यवादका सार है। उसे हम अपना लेते है। बादाम और दूधका भी शरीरके लिए उपयोगी अश ही हम स्वीकार करते है। साम्यवादके बारेमे भी सारासार विचार करना चाहिए। गरीबोंका उद्धार गरीबोको ही करना चाहिए उसका यह सारभूत अश हमे स्वीकार कर लेना चाहिए और निःसार अश त्याग देना चाहिए।

साम्यवादकी प्रक्रियामें हिंसाके द्वारा क्रातिका प्रतिपादन है। यह उसका नि सार अंश है। हिंसाकी शक्ति जनताकी शक्ति नही हो सकती। विद्वत्ता भी आम जनताकी शक्ति नही है। बुद्धितो मुट्ठीभर ब्राह्मणोंकी शक्ति मानी

जाती थी। वह उन्हीके ताले-कुजियोमे बद रहती थी। तलवार भी आम जनताकी शक्ति नही है। बूढे, स्त्रियां, बच्चे, अशक्त, इनकी वह शक्ति नही है। वह तो बत्तीस इच या चौतीस इच छातीवाले तगडे प्राणियोकी शक्ति है। इतने चौडे सीनेवाले ऊचे-पूरे प्राणी हमेशा सज्जन ही नही होते। उनकी शक्ति स्थायी नही होती। हिंसाकी शक्तिसे जो अर्जन करोगे, उसे सभालनेके लिए निरतर हिंसा ही करनी पडगी। गरीबोकी, आम जनताकी, वह शक्ति नही हो सकती।

जर्मनी-द्वारा रूसके आक्रमणका नैतिक समर्थन नही हो सकता। लेकिन सात्विक समर्थन हो सकता है। रूसका फौजी खर्च सालाना सोलह सौ करोडका है। मामूली, शातिके समय इतनी प्रचड सैनिक शक्ति बढती हुई देख उसे अनिरुद्ध बढने देनेके लिए जर्मनी गधा नही है। रूस इतनी फौज किसलिए बढा रहा था? क्या सिपाहियोको गौरीमैयाकी तरह सजाकर उनकी आरती उतारनेके लिए? साम्यवादको ससारमे हिंसासे रूढ करनेकी रूसने ठान ली है। इसलिए वह इतना फौजी खर्च करता है। साम्यवादी विचारोकी परपरा पनपने देना जर्मनोके लिए इष्ट नही है। इसलिए रूसकी ताकत तोड देना जर्मनीकी दृष्टिसे बुद्धियुक्त ठहरता है।

रूसकी शक्तिसे लाभ उठाना इग्लैडकी दृष्टिसे बुद्धिमानीका लक्षण है। इग्लैड कहता है, "रूसकी फौजी शक्तिके प्रयोग द्वारा आज जर्मनीका सामना कर ले। साम्यवादसे बादमे निपट लेगे।" रूस अमेरिकासे कहता है, "भाई, हमने धर्मकी बिलकुल ही मिट्टी पलीत नही की है। तुम हमारी मदद कर सकते हो।"

अर्थात् रूसको पाखडियोकी खुशामद करनी पडती है। यह क्या हो रहा है? यह उस राष्ट्रकी परावलबी दशा है। क्या इससे साम्यवाद टिकेगा? क्या वह सैनिक सत्तावादसे बच सकेगा? अगर असाम्यवादी और वैषम्यवादी राष्ट्रोकी मददसे विजय भी होजाय, तो भी साम्यवाद नही रह सकता। पराजय हो तो बिलकुल ही नही रह सकता। जो रूसमें सभव नही है—ससार

मे कही सभव नही है—वह हिदुस्तानमे कैसे हो जायगा ? हिसा जनताकी शक्ति ही नही है। हम जनतामे तेज निर्माण करे।

हमने साम्यवादका सार—गरीबोकी उन्नति करनेके लिए, उन्हें अपना उद्धार अपने तई करनेको समर्थ बनानेकी आस्था—ग्रहण किया। नि सार वस्तु त्याग दी। नाजीवादका सदेश—पूर्वपरपरासे अनुसधानका गुण भी ग्रहण किया। लेकिन हमारे अभिमानको 'अभिमान' शब्द ही लागू नही है। इतना वह व्यापक है। जो राष्ट्र एकरगी है, उनका देशाभिमान सकुचित होता है। हिदुस्तानकी परपरा मिश्र और व्यापक है। व्यापक भारतकी, इस महामानव-समुद्रकी, मिश्र परपराका अभिमान सकुचित हो ही नही सकता। वह निष्कलक है। इस प्रकार व्यापक भारतका अभिमान और गरीब लोगोकी शक्ति प्रकट करना—ये दो गुण दो वादोसे लेनेवाला यह तीसरा वाद मैने यथासभव तटस्थतासे तुम्हे बतलाया।

'यथा सभव' कहनेका कारण एक अर्थमे मै भी पक्षपाती हू। मै उस वादको मानता हू। वह मेरे जीवनमे दाखिल हो गया है। फिर भी, मै उसे जितनी तटस्थतासे रख सका, उतनी तटस्थतासे मैने आपके सामने रक्खा है। मेरा पहला सूत्र याद रहे। मै कहता हूं इसलिए या गाधी कहते है इसलिए उसे न स्वीकारिये। व्यापक बुद्धि और तटस्थ वृत्तिसे विचार कीजिए।

यह बतला चुका हू कि हिसा जनताकी शक्ति नही है। अब यह दिखाना बाकी है कि अहिसा जनताकी शक्ति कैसे हो सकती है ? याने अहिंसाको सामाजिक रूप कैसे दिया जा सकता है ? एक-एक व्यक्तिकी विजयके उदाहरण हमारे यहा और ससारमे पाये जाते है। एकनाथ महाराज, ईसा, सुकरात ने दृढताकी सामर्थ्य प्रकट की है।

प्रयोगकी प्रक्रिया ऐसी ही होती है। विज्ञानके क्षेत्रमे भी एक-एक व्यक्ति प्रयोगशालामे प्रयोग करता है। उसके सिद्ध होनेपर उस सिद्धातका व्यापक प्रयोग अथवा सामाजिक विनियोग होता है। भापकी शक्ति का आविष्कार व्यक्तिगत प्रयोगसे हुआ है। चायकी केटलीकी भापपरसे आविष्कार हुआ। तदुपरात समाजमे उसका विनियोग हुआ। यदि वह शोध

व्यक्तितक ही सीमित रह जाती, तो बेकार साबित होती अहिंसामें व्यक्तिगत प्रयोग भी अकारथ नही जाता। अहिंसाकी शक्ति व्यक्तिगत होनेपर भी कार्य करती है, उसे सामाजिक रूप दिया जाय तो बहुत बडा कार्य करती है।

एक शका की जाती है 'क्या सारा समाज एकनाथ, बुद्ध या खीस्त बन सकता है? यदि बन सकता, तो तुम्हारे सामने योजनाए ही पेश न करनी पडती। हम-तुम सामान्यजन उनके प्रयोगसे लाभ उठा सकते है। उसके लिए उनके बराबर शक्तिकी जरूरत नही है। गुरुत्वाकर्षणके शोधके लिए न्यूटनमे विशेष बुद्धि होनी चाहिए। लेकिन उस शक्तिसे काम लेनेके लिए मिस्त्रीमे उतनी बुद्धिकी जरूरत नही है। हिटलर भी अपने क्षेत्रमे अद्वितीय है। वह नये-नये शस्त्रोका शोध करता है। लेकिन उसे जिस बुद्धिकी जरूरत होती है, वह उन अस्त्र-शस्त्रोको बरतनेवाले सिपाहीको नही होती।

प्रथम शोध करनेवालोंको अद्भुत और अलौकिक होना ही चाहिए। लेकिन सामाजिक प्रयोगोके लिए हरएकमे अलौकिक शक्तिकी जरूरत नही है। गाधीको अलौकिक, अद्वितीय शक्तिकी आवश्यकता है। अन्यथा वे आविष्कार नही कर सकते। लेकिन उस शक्तिके सामाजिक प्रयोगके लिए अलौकिक सामर्थ्यकी आवश्यकता नही है।

गुण्य-गुणकका उदाहरण लीजिए। तकली बिलकुल छोटी-सी है। उसपर चालीस ही तार कत सकते है। लेकिन अगर उसे चालीस करोड हाथ चलाने लगे, तो चालीस करोड गुने चालीस तार होगे। अहिंसा भी ऐसी है। तकलीकी तरह वह सीधी-सादी, सुविधाजनक और छोटीसी है। उसे बूढे, बच्चे, स्त्रिया सब चला सकते है। मिलके लिए हॉर्सपावरकी जरूरत होती है। तकलीके लिए नही। एक ईसाको जितनी शक्तिकी जरूरत होती है, उतनी सामाजिक प्रयोगके लिए नही होती। क्राइस्ट अहिसाके प्रयोगकी मिल और हम चालीस करोड लोग अहिंसाके प्रयोग की तकलिया है। हम एक-एक तोला अहिसक शक्ति प्राप्त करे, तो भी वह समाजके लिए हजरत ईसाकी अहिंसा की अपेक्षा अधिक उपयोगी ठहरेगी। खेतमे एक ही

जगह मनो खाद डालनेसे काम नही चलता। अगर एक-एक इच ही खाद सारे खेतमे बिखेर दिया जाय और वह जमीनमे गले, तो ज्यादा उपयोगी साबित होता है। हम भी अगर थोडी-थोडी अहिंसक शक्ति कमाए, तो हिमालयसे भी बुलद कार्य होगा, जो ईसाकी मनो अहिंसाकी अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होगा।[1]

सर्वोदय : फरवरी, १९४२

: १३ :

गो-सेवाका रहस्य

आज आपके सामने मै जो थोडा-सा जिक्र करना चाहता हू, उसकी प्रस्तावनामे कुछ कहनेकी जरूरत मानता हू। कल हमलोगोकी जो सभा हुई थी, उसमे मैने कहा था कि आप लोग मुझे अध्यक्ष बना रहे है, लेकिन मै कुछ जगली जानवर हू। इसीलिए अगर आपको कुछ असभ्यता मेरे बर्तावमे दिखाई पडे, तो उसे बरदाश्त करना होगा, वैसे भी मेरा जन्म जगलमे हुआ, और जिसे आधुनिक शिक्षण कहते है, वह मुझे मिला न मिला, इतनेमे मुझे उपनिषद् पढनेकी इच्छा हुई। आपमेसे कुछ लोग जानते ही होगे कि उपनिषद् एक जगली साहित्य है। उसको सस्कृत भाषामे 'आरण्यक' कहते है। उसका हिंदीमे सीधा तर्जुमा 'जगली साहित्य' ही होगा। उसमे ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए दो लक्षण बतलाये है—**'अवाकी अनादरः'**। यानी वह न बोलता है और न किसी चीजकी परवाह करता है। मेरे स्वभावमे भी यह बात आ गई। और ऐसी छोटी-मोटी कई बाते हो सकती है, जिनकी कि मै परवाह करता हू या नही करता, उसका भी पता मुझे नही रहेगा। कृपया उनको आप सह लेगे।

---

१. वर्धाके 'जीवन समीक्षक मंडल' में (२२ दिसंबर १९४१ को) दिया गया भाषण।

दूसरी बात, जो उसीका हिस्सा है, मुझे यह कहनी थी कि मेरी मातृ-भाषा मराठी है, और मराठी भाषामें यद्यपि अद्भुत सामर्थ्य भरी हुई है, तो भी एक चीजकी कमी है। वह यह कि जिसको दरबारीपन या सभ्यता कहते है—जो उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी भाषामे है—वह मराठीमे मौजूद नही है। हम हजार कोशिश करे तो भी 'आप आइएगा, बैठिएगा' का तर्जुमा मराठीमे ठीक-ठीक कर नही सकते। इसलिए इस दृष्टिसे जो कुछ कमिया मुझमें रह गई हो, उन्हे आपको बर्दाश्त करना होगा।

इसके बाद प्रस्तावनामे एक बात और मुझे कहनी होगी। मुझे सूचित किया गया था कि मै अपना व्याख्यान लिखकर दे दू। शायद यह एक सभ्यताका ही रिवाज है। लेकिन वह मै नही कर सका। क्योकि अक्सर लोगोको देखे बिना मुझे कुछ सूझता ही नही, यह तो हमेशाकी बात हुई। लेकिन इस वक्त एक खास वजह यह भी थी कि यहा पर बापूका व्याख्यान होनेवाला था। मैने सोचा कि उनका व्याख्यान मै सुनूगा और उसके प्रकाशमे बोलूगा, यानी उन बातोको दुहराऊगा जिनका उन्होने विस्तार किया होगा, और उन्होने जो बाते नही कही होगी, उन्हे मै कहूगा। यह सोचकर मैने अपना भाषण लिखकर नही भेजा और अब वह व्याख्यान जबानी ही हो रहा है। अगर इस चीजके लिए क्षमा मागनेकी जरूरत मानी जाती हो, तो वह मै माग लेता हू।

पहले तो मै नामसे ही शुरू करूगा। क्योकि नामकी महिमा सभी जानते है। हमारे सघका नाम 'गो-सेवा सघ' है। उसको सुनते ही सहज सवाल होता है, कि "क्या आपने कभी 'गो-रक्षा' शब्द सुना है? उसे जानते हुए भी 'गो-सेवा' शब्द आपने रक्खा है, या यो ही बे-सोचे-समझे या अनजानमे गो-सेवा नाम रख दिया है?"—इसका जवाब देना जरूरी है।

सस्कृतमे 'गो-सेवा' शब्द हमको शायद ही मिलेगा। वहा 'गो-रक्षा' शब्दका प्रयोग है। इसलिए हम सब लोग वह शब्द जानते है। लेकिन जानकर भी हेतुपूर्वक, उसको छोडा है और 'गो-सेवा' शब्द अधिक नम्र समझकर चुन लिया है। यानी हम अपनेमे गो-रक्षा की सामर्थ्य नही पाते, इसलिए

गो-सेवासे सतोष मान लिया है। अर्थात् दयाभावसे, हमसे जितनी हो सकेगी, उतनी हम गायकी सेवा करेगे और भगवान्‌की कृपासे जब हममे ताकत आ जायेगी, तब फिर हम गो-रक्षा करेगे।

लेकिन, जब हम 'गो-सेवा सघ' कहते है, तो यह पूछा जायेगा कि "आप लोग गायकी क्या सेवा करना चाहते है? अगर आप गायका दूध और घी बढाना चाहते है, और अच्छे बैल पैदा करना चाहते है, तो उसमे कौन-सी 'गो-सेवा' है? उसमे तो आप लोग अपनी खुदकी ही सेवा करना चाहते है। अग्रेज लोगोने 'पब्लिक सर्विस' शब्द निकालाहै वैसी ही आपकी यह 'गो-सेवा हुई"—ऐसा आक्षेप हो सकता है। उसके जवाबमे कुछ कहना ठीक होगा।

हम लोग अपनी मर्यादा समभते नही। इसीलिए यह सवाल उठ सकता है। 'सेवा' और 'उपयोग' के बीच कोई आवश्यक विरोध नही है, यह समभनेकी जरूरत है। हम जिस प्राणीका उपयोग नही करते, उसकी सेवा करनेकी ताकत हममे नही होती, यह हमारी मर्यादा है। उसमे स्वार्थका कोई मुद्दा नही है। एक-दूसरेकी सेवा करनेका यही एक रास्ता हमारे लिए ईश्वरने खुला रक्खा है। नही तो, जैसा कि बापूने बताया, पिजरापोलोमे जो होता है, वही सारे समाजमे होता रहेगा। आज भी हम यही हाल देखते है। पक्षीको खिलाते है और आदमीको भूखा रखते है। इस तरह दया या सेवा तो नही होगी, बल्कि निर्दयता या असेवा होगी।

ईश्वरके अनत गुण है, उनमेसे हमे अनेक गुणोका अनुकरण करना है। लेकिन ईश्वरका जो विशेष गुण है, उसका अगर हम अनुकरण करेगे, तो वह अहकार होगा। ईश्वरके और सब गुणोका अनुकरण शक्य है, परतु उसके विशेष गुणका, यानी उसके ऐश्वर्यका, अनुकरण शक्य नही। वह सृष्टिका पालन करता है और सहार भी करता है। इसमे हम उसका अनुकरण नही कर सकते। बहुत तो चीटियोके लिए शक्कर डाल देगे। चीटिया वहा इकट्ठी हो जायेगी, और अगर सयोगसे वहा पर एकाध बेल आ जाये, तो उसके पैरके नीचे वे खतम हो जायेंगी। जब ऐसी बात होगी, तो उसकी जिम्मेदारी मै कैसे उठाऊगा? मै तो कह दूगा कि यह तो ईश्वरकी करतूत है!

यहां मुझे एक घटना याद आती है। एक थी बुढिया। उसके एक बेटा था। बेटा उसकी मानता नही था। इसलिए वह बहुत दु खी रहती थी। जब उसके पास मै पहुचा, तो वह कहने लगी, "मैने इसको पाला-पोसा, लेकिन यह मेरी सुनता ही नही।"

मैने उससे पूछा, "तेरे क्या यह अकेला ही लडका है?"

उसने कहा, "हा, तीन-चार और थे, वे सब मर गये।"

तब मैने अपने जगली ढगसे सीधा सवाल पूछा, "माजी, तुमने अपने तीन-चार लडकोको क्यो मार डाला?"

आप समझ सकते है कि मेरे इस जगली सवालसे उसके दिलपर कितनी चोट लगी होगी! थोडी देरके लिए वह सहम गई और बादमे कहने लगी, "मै क्या करू? भगवान्ने चाहा सो हुआ।" तब मै उससे पूछता हूँ, "अगर तुम्हारे तीन लडकोको भगवान्ने मार डाला है, तो तुम्हारा यह जो चौथा बेटा है, उसको पाला-पोसा किसने? पाला-पोसा तो तुमने और मार डाला भगवान्ने, यह कैसे हो सकता है? या तो दोनो जिम्मेदारिया उठाओ या दोनोको छोड दो।"

जिस प्राणीका हमे उपयोग नही है उसकी सेवा हमसे नही हो सकती। गो-सेवाका रास्ता सीधा है। गायका हमे ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग तो है ही। वह करनेकी कोशिश करेगे और उसके साथ-साथ उसकी सेवा, अधिक-से-अधिक जितनी हो सकती है, करेगे, जैसे कि हम अपने बच्चोकी सेवा करते है। यही उसका सीधा अर्थ होता है।

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमे वैदिक ऋषि-मुनियोने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढाकर ऋषियोंने हमसे अनुचित पूजाके भाव पैदा किए है। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नही है। वस्तु-स्थिति ऐसी नही है। जिस तरह हम उपयोगकी दृष्टिसे विचार करते है, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोने भी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम

गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करे। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराए रोज पैदा होती हो। आप समझ सकते है कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेगे कि उनकी मशा क्या थी और गायोसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नही मिलता, ऐसी शिकायते आती है। वैदिक ऋषियोने गो-सेवा की दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायोसे ज्यो-त्यो मिल सकता है, परतु घीके लिए तो भैसकी ही शरण लेनी पडेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नही मानते। वे कहते है—

यूय गावो मेदयथाः कृश चित्।

"हे गायो, जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेदसे भर देती हो।" यहा 'मेदयथा' यानी 'मेदती हो' का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते है चरबीको, स्नेहको, जिसे हम 'फैट' कहते है। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमे पर्याप्त मात्रामे होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमे घीकी मात्रा कम मालूम होती है, तो उसे बढाना हमारा काम है। वह कसर गायमे नही, बल्कि हमारी कोशिशमे है।

उसीकी पुष्टिमे उन्होने गायका वर्णन यो किया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।

जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन'। 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इसपरसे आप समझ लेगे कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोने पढाया है, उसके विकासकी दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित

पूजाभावकी नही, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है। यानी परम उपयोगिता की है।

सेवासे मतलब उपयोगहीन सेवा नही है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका भाव यह है कि उपयोगी जानवरको हमे अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते है, जैसाकि हम अपने बाल-बच्चोके विषयमे करते है। इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ नित्य सबध है। अब मै जरा और आगे बढूगा। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नही कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नही करना चाहिए। गो-सेवा-सघके नाममे 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है। यानी हम बगैर सेवाके लाभ नही उठायेंगे। यह आज भी होता है। हम ढोरोकी सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही है। लेकिन शास्त्रीय दृष्टिसे जितनी करनी चाहिए उतनी नही करते। क्योकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नही है, विशेषज्ञोसे इस काममे हम सहायता जरूर लेगे। लेकिन हमे सब काम उनपर नही छोडना चाहिए हमें गायकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब उसमे से गो-सेवाका थोडा-बहुत शास्त्र हमारे हाथ आ जायेगा।

पवनारमे हमारे आश्रमके एक भाई, नामदेवने दो-चार गाये, पाली है। बाजारके लिए उसे एक दिन सेलू जाना पडा। शामको नामदेव वापस लौटा और गाय दुहनेके लिए बैठा, तो गायने दूध नही दिया। उसने काफी कोशिश की। तब उसने पूछा, "आज गायको क्या हो गया है ?" जवाब मिला, "कुछ तो नही। पता नही दूध क्यो नही देती ? बछडा भी तो बधा हुआ था। इसलिए वह भी दूध नही पी सका होगा ' निदान नामदेवने पूछा, "किसीने उसे मारा-पीटा तो नही ?" एक भाईने कहा, "हा मारा तो था।" नामदेवने कहा, "बस तो वह इसीलिए दूध नही देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुचा, उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। तब गाय कुछ देरके बाद दूध देने के लिए तैयार हो गई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमे समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह सेवा करेंगे, तो उसीमेसे

गो-सेवाका रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट हो जायेगा और गो-सेवाका शास्त्र बनेगा।

कालिदासने, जो कि हिंदू सस्कृतिका अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवाका कितना सुन्दर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममे रहनेको आता है। ऋषि उसे गायकी सेवाका काम देते है, क्योकि आश्रममे कोई बिना सेवाके रह ही नही सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हा, तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—इसका चित्र रघुवशमे एक श्लोकमे यो खीचा है—

> स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
> निषेदुषीमासनबंधधीरः ।
> जलाभिलाषो जलमाददानां,
> छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

शरीरका छायाकी नाई राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खडी होती थी, तब वह भी खडा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी चलता, वह बैठ जाती, तब वह बैठता, वह पानी पीती, तभी वहभी पानी पीता, गायको खिलाये-पिलाये बिना खुद नही खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से-अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्दका दोहन करके मैने यह दूध आपके सामने रख दिया है, एक तो हम बिना उपयोगके किसी की सेवा नही कर सकते, और दूसरे सेवा किए बिना यदि हम उपयोग करेगे तो वह भी गुनाह होगा। हमे यह हरगिज नही करना है। ये दो बाते मैने आपके सामने रक्खी।

अब हम 'सघ' शब्दका मनन करेगे।

क्या 'सघ' शब्दमे कोई विशेष दृष्टि नजर आती है? चरखेके लिए सघ हरिजनोके लिए सघ—इस तरह हमने कई सघ बनाये है। इसी तरह गो-सेवाके लिए भी यह सघ बना है। इसके साथ-साथ और भी एक अर्थ

इसमे लक्ष्य है। हिंदुस्तानकी भूमिकी और गायोकी जो हालत है, उसे देखिए। सभवत बिना साझेके यह काम आगे नही बढ सकेगा। शायद जगह-जगह इसे सघका स्वरूप देकर ही यह काम करना होगा। गो-सेवा-'सघ' शब्दसे इस तरहका भाव दोहन करके अगर हम निकालेगे, तो उसमे एक गुण और मिल जायेगा। गो-सेवा कार्यमे साझेदारी या साघिक प्रयत्नकी जितनी जरूरत है, उतनी और किसी कार्यमे शायद ही हो। हिंदुस्तानकी आजकी हालतमे हरएक किसान अपने-अपने घरमे गाय पाले, शास्त्रीय दृष्टिसे उसकी हिफाजत करे, यह बात मुश्किल मालूम होती है। इसीलिए गावोमे साघिक रचना करनी पडेगी। यह एक विशेष अर्थ 'गो-सेवा-सघ' शब्दसे निकल सकता है।

अब मै और भी आगे बढता हू। गो-सेवा-सघ के कार्यका आरम्भ प्रतिज्ञासे होता है। अभिप्राय यह है कि अगर हम गायके ही दूध-घीका सेवन करेगे, तो उसकी सेवा करनेकी इच्छा पैदा होगी। इसलिए आरभमे गायके ही दूध-घीके सेवनकी प्रतिज्ञा रक्खी गई है। कई लोग पूछते है, "प्रतिज्ञाकी क्या जरूरत है? बिना प्रतिज्ञाके काम नही हो सकेगा?" उत्तरमे मै अपना अनुभव बता दू। मैने देखा है कि जिस प्रयत्नका आरभ सकल्पसे होता है वह जैसे फलता है, वैसे केवल मशाका प्रयत्न नही फलता। कोई महान् कार्य सकल्पके बिना नही होता। अगर सकल्पसे आरभ करते है, तो आधेसे अधिक कार्य वही हो जाता है। प्रतिज्ञा सिर्फ यही नही है कि घी-दूध खायेगे या नही खायेगे। गायके दूध-घीकी पैदाइश बढानेकी कोशिश करेगे, यही प्रतिज्ञाका मतलब है।

प्रतिज्ञा लेनेमे अक्सर यह आपत्ति उठाई जाती है कि हम दूसरोके घर ऐसे नियम लेकर जायेगे तो उनको तकलीफ होगी। इसीलिए इसका जवाब बापूने अपनी अहिंसाकी भाषामे दिया है। मै अपनी 'अनादर' की भाषामे बताना चाहता हू। इतना तकल्लुफ हमे क्यो रखना चाहिए। सूर्यको हम उसकी किरणोसे जानते है। वह जहा जाता है, अपनी किरणे साथ ले जाता है, चाहे वे किसीको ताप दे, या आह्लाद दे, वह इस बातकी परवाह नही

कर सकता। सूर्य अगर अपनी किरणोको छोडता है, तो उसका सूर्यत्व ही जाता रहता है। वैसे ही हमे भी अपनी किरणोको, यानी अपने उसूलोको, अपने साथ ले जाना चाहिए। अगर मै किसीके घरमे अपने सिद्धातो और विचारोको छोडकर प्रवेश करू तो मै अपने मेरेपनको ही छोड देता हू,—मै 'मै' ही नही रह जाता। अगर हम 'स्वत्व' छोडकर किसीके घर जायेगे, तो उसको आनद होगा ऐसी बात नही है। इसलिए प्रतिज्ञा जरूर लेनी चाहिए और लोगोकी कल्पित तकलीफोके विषयमे निर्भय रहना चाहिए।

अब एक बात और। गाय और भैसके विषयमे बहुत कुछ कहा गया है। दोनो मनुष्यको दूध देने वाले जानवर है। दोनोमे कोई मौलिक विरोध तो नही होना चाहिए। फिर भी, हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते है, तो उसका तत्त्व हम लोगोको जान लेना चाहिए। हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही है कि हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश है। बैल तो हमे गायके द्वारा ही मिलता है। यही गायकी विशेषता है। उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढा सकते है, जरूर बढायेगे। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते ही है। बिना बैलके हमारी खेती नही होती। इसलिए हमे गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-सभाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नही करने, तो हिंदुस्तान की खेतीका भारी नुकसान करते है। जब हम इस दृष्टिसे सोचते है, तो भैसका मामला सुलझ जाता है। और यह सहज ही समझमे आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्त्तव्य क्योकर हो जाता है।

मुझे याद आता है एक दफा मेरे एक मित्रने उनके प्रातमे अकालके समय जानवर किस क्रमसे मरे, उसका हाल सुनाया था। उन्होने कहा, सबसे पहले भैसा मरता है। क्योकि हम भैसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते है। वर्धाके बाजारमे भैसे ऐसी अवस्थामे लाई जाती है जब कि वे एक-दो घटो मे ही ब्यानेको होती है। हेतु यह होता है कि लोग उसे तुरत खरीद ले। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैस बाजारको ला रहा था। उसी समय मनोहर-जीने, जो कि उन दिनो येलीकेलीमे महारोगीसेवा मडल-द्वारा महारोगियोकी

सेवा करते थे, उसको देखा। रास्तेमे ही वह भैस व्यायी—पुत्र जन्म हो गया। लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बडी झुझलाहट हुई। उसने सोचा, यह पुत्र कैसा ? यह तो एक बला आ गई। मनुष्यको तो पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है, लेकिन भैसके पुत्रको वह सहन नही करता। उसने उस पुत्रको वही छोड दिया और भैसको लेजाकर वर्धाके बाजारमे बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना, बेचारा भैस-पुत्र वही पडा रहा। मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे। फिक्रमे पडे कि अब इसका क्या किया जावे ? जिस खेतमे वह रहते थे उस खेतके मालिकके पास गये और उससे कहा, "भैया, इसको सभालोगे ?" मालिकने कहा, "यह क्या बला आ गई ? मै उसको कैसे रखू ? आखिर उसका उपयोग ही क्या है ? मै उसकी परवरिश क्यो करू ? उसको आखिर दशहरेके दिन कत्ल होनेके लिए ही बेचना होगा। इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नही है।"

मैने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैसा मरता है। फिर उसके बाद गाय मरती है। उसके पश्चात् भैस मरती है और सबसे आखिरमे बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसकी हिफाजत करनेकी विशेष कोशिशकी जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते है और उसे जिलानेकी कोशिश करते है। यह तो हुई उपयोगिताकी बात। बैल इन सब जानवरोमे सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहासे आयेगे ? हिदुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है, लेकिन गायकी सेवा करना नही चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वाग रचता है। दूधके लिए तो भैसकी ही कद्र करता है। हिदुस्तानके लोगोकी यह मशा है कि उनकी माता तो रहे भैस और बाप हो बैल। यह योजना तो ठीक है, लेकिन वह भगवान्को मजर नही है। इसलिए यह मामला बहुत टेढा हो गया है। भैस और गाय दोनोका पालन हिदुस्तानके लिए आज बडी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हमे यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामे गायकी ही सेवाको

महत्त्व देना पडता है। बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लेगें, तो भैंसका भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नही हुआ है और शायद उसकी कभी जरूरत भी नही है।

गाय और भैंसको एक-दूसरेकी विरोधी माननेकी जरूरत नही है। लेकिन हमें तो गो-सेवासे आरभ कर देना है और वही हो भी सकता है। हमे समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नही करते। आज हम जो भैंसकी सेवा करते है, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है। हम उसमे केवल अपना स्वार्थ देखते है। हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते है। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नही कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमे नही करना है।

जैसा कि मैं बता चुका हू, आज भैंसेकी हर तरहसे उपेक्षाकी जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिदुस्तानके कुछ भागोमे भैंसेका उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणत हिदुस्तानकी गरम हवामे भैंसा ज्यादा उपयोगी नही हो सकता, भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे है। नागपुर-बरारमे गर्मियोमे गर्मीका मान एकसौ पद्रह अश तक चला जाता है। खासकर उन दिनोमे भैंसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहा तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको बेहद तकलीफ होती है। क्योकि भैंस पूरी तरह जमीनका जानवर नही है। वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीरमे भगवान्ने चरबीकी अधिकता रखी है। क्योकि ठड और पानीसे बचनेके लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमे स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके बाहर निकालते ही वह सूर्यके तापमे जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंसकी भी है। उसे धूप बरदाश्त नही होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोमे उसीके मलमूत्रका उसकी पीठपर लेप करते है, ताकि कुछ ठडक रहे। वे जानते है कि उस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोमे जाकर आप लोगोसे पूछेगे कि आपके गॉवमे कितनी भैंसे और कितने पाडे है, तो वे कहेगे कि भैंसे है करीब सौ-डेढसौ और पाडे है

कुल दस, या बहुत तो बीस। अगर हम उनसे पूछेंगे कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओंकी संख्यामें इतनी विषमता क्यों है? तो हमारे देहातोंके लोग जवाब देंगे, 'क्या करें? भगवान्‌की करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं'। आखिर यहां भी भगवान्‌की करतूत आ ही गई! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तकलीफका ध्यान न करते हुए भैंसका उपयोग करते हैं, कि भैंसे जिंदा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे। मतलब, हम भैंसकी सेवा करते हैं, ऐसी बात नहीं है। उसमें हम सिर्फ भैंसका उपयोग ही करते हैं। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते। इसलिए आपकी समझमें आगया होगा कि सेवा-संघकी स्थापना हम किसलिए करते हैं।

चंद लोग पूछते हैं, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार-श्रेणी तो ठीक है, मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यों न करें?"

उसके जवाबमें मैं यह पूछता हूँ कि ट्रैक्टर चलायेंगे तो बैलका क्या होगा? जवाब मिलता है, "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जायें। हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोंका मांस बराबर खाते हैं, उसी तरह बैलका मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न लिया जाये?" इस तरह जब बैलोंको खा जानेकी व्यवस्था होगी, तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीन जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलोंको अगर हिंदू नहीं खायेंगे, तो गैर-हिंदू खायें। आज भी हिंदू गायको बेचते ही हैं। खुद तो कसाईसे पैसा लेते हैं और गो-हत्याका पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुंदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है। वह कहता है कि अगर मैं कसाईको गाय मुफ्तमें देता, तो गो-हत्याके पापका भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं—इसलिए पापका हिस्सेदार नहीं बनता, उस व्यवस्थाको आगे बढायेंगे, तो सब ठीक हो जायेगा। हम भैंससे दूध लेंगे, बैलोंको खा जायेंगे और यंत्रोंके द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनोंका सवाल, हल हो जायेगा।

इसके जवाबमे मै आप लोगोको यह समझाना चाहता हू कि बैलोको क्यों नही खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ प्रेज्युडिस्ड लोग यानी पूर्वग्रह दूषित लोग बैलको भले ही न खाये, लेकिन बाकीके तो खायेंगे और हम यत्रके द्वारा मजेमे खेती करेगे। इस विषयमे हमारे विचार साफ होने चाहिए। मै मानता हू कि हिदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होनेवाली है, उसहालतमे अगर हम मासका प्रचार करेगे और यत्रसे खेती करेगे, तो हिदुस्तान और हम जिदा नही रह सकेगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेगे, तो कितने प्राणियोकी जरूरत होगी ? उतने बैलोकी पैदाइश हम यहा नही कर सकेगे। सिर्फ मास, या गोश्त खानेका ढोग तो नही करना है। मास अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते है कि लोग खा सके इतने बैल पैदा नही हो सकेगे। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी, तो टैक्टरका खर्च बढेगा और गोश्त भी पूरा नही पडेगा और आखिरमे गाय और बैलका वश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमेरिकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिकाके अर्जेण्टाइनके बदरगाह ब्युनॉस-आयरिसमे रोज करीब-करीब दस हजार बैल कटते है, और वहासे गोश्तके पीपे दूर-दूरके देशोको भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नही रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा, तो आगे चलकर लोगोको गोश्त मिलना कठिन हो जायेगा, इसलिए यूरोपके डॉक्टरोने अब यह शोध की है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—सभव है उसमे मतभेद होगा, क्योकि डॉक्टरोमे मतभेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्तके मुकाबिलेमे दूधमे गुण अधिक है। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यो और हकीमोने, बहुत पहले किया है। मै मानता हू कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मासाहार करते है, उसी तरह हिदुस्तानके लोग भी पुराने जमानेमे मासाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजे पर पहुचे कि

अगर हम मासके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे, तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नही कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जन सख्या बढती जायेगी, वैसे-वैसे दुनिया भरमे गोश्तकी महिमा कम होगी और दूधकी बढेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है ?' हा है तो सही, 'फिर दूधको पवित्र क्यो माना गया ?' उसका जवाब अभी मैने जो कुछ कहा उसी मे मिल सकता है। जैसाकि अभी मैने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमे मासाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाये, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियो और वैद्योने जब लोगोके सामने गायके दूध कि महिमा रक्खी, तबसे दूध ऐसी चीज हो गई जिसने लोगो की मासहारसे छुडाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत आपको वेदोमे मिल सकते है। ऋग्वेदमे यह वचन

गोभिष्टरेम अर्मात दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

पाया जाता है। इस मत्रका अर्थ मैने इस तरह किया है—'भूखको तो हम अन्नके द्वारा मिटा सकते है। लेकिन 'दुरेवा अमति' का यानी दुर्भाग्यमे ले जानेवाली अबुद्धिका, अर्थात् गोश्तकी तरफ ले जानेवाली अबुद्धिका, गायके दूधके द्वारा ही हम निवारण कर सकते है।' सब तरहकी अबुद्धि मिटानेके लिए और उसमेसे जहर निकालनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुल मिलाकर यत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते है, वह गलत है।[1]

सर्वोदय : मार्च, १९४२

---

१. गोसेवा-संघके सम्मेलनके अवसरपर (१ फरवरी, १९४२ को) अध्यक्षपदसे दिया गया भाषण।

: १४ :

जीवित मृत्यु

कल शामको चार बजे महिलाश्रममे मेरा व्याख्यान था। उस व्याख्यानके लिए मै वहा पहुचा। बहने आ बैठी। मै अपना व्याख्यान शुरू करनेवाला था कि इतनेमे मोटर आई। सदेश मिला कि जमनालालजी बीमार है। मुझे बुलाया है। जमनालालजी ऐसे खास बीमार तो थे ही नही, सदाकी भाति वे दोपहरतक अपना काम करते रहे थे इसलिए उनकी बीमारीकी गभीरता मै न समझ सका। किंतु व्याख्यान छोडकर मै गाधी-चौक पहुचा। गाडीसे उतरते ही दिलीप ऊपरसे नीचे आये। उनके चेहरेपर दु खकी छाया थी, परतु फिर भी मै पूरी कल्पना नही कर सका। स्वास्थ्यके बारेमे पूछनेपर उन्होने कहा—"वह तो गये।"

ऐसी अनपेक्षित दु खदाई, चित्तको हिला देनेवाली खबर सुनकर मुझे क्या महसूस हुआ होगा यह आप समझ सकते है। खबर तो क्लेशदायी थी, परतु मुझे अपने भीतर एक आनदका आभास हुआ। मनकी उसी अवस्थामे मै उनके कमरेमे गया। वहा जो लोग बैठे थे उन सबके चेहरेपर जब मैने दु खकी छाया देखी तो मैने महसूस किया कि घटना ऐसी ही हुई है जिससे कइयोको दु ख हो सकता है। फिर भी मुझे मानना चाहिए कि मेरी आनदकी भावनामे कमी नही हुई व अग्निदाहपर गीता व उपनिषदो का पाठ करते समय आनदकी उस भावनाकी सीमा नही रही।

मेरी यह अवस्था रातभर ऐसी ही रही। प्रात उठनेपर जमनालालजीके चले जानेसे हम लोगोकी जो क्षति हुई व हमपर जो जिम्मेदारी आ पडी उसकी भी पूरी कल्पना हुई। आगेका सब हाल आप समझ सकते है।

परतु मेरी खुशीका कारण मुझे आपको जनाना होगा। जेलमे मुझे मालूम हुआ था कि जमनालालजीने गो-सेवाके कामकी जिम्मेदारी ली है। मुझे सतोष हुआ था। यह कार्य जमनालालजीने उठाया, तो देशको इससे लाभ तो होगा ही, उनके चित्तको भी शाति मिलेगी, लेकिन उनके थके हुए शरीरके

लिए यह काम बहुत ज्यादा होगा, ऐसा मेरा खयाल था। जेलसे छूटनेपर उन्होने इस नये कामके बारेमे मेरी राय पूछी। मैंने अपना सतोष व्यक्त किया। उनकी अ खोमे आसू चमके। तबसे आजतक इन दो महीनोमें मैंने देखा कि वह खुश थे, उनके चित्तमे प्रसन्नता थी, इसलिए कि उन्हे एक पवित्र तथा आत्मोन्नतिमे सहायता देनेका कार्य मिला और जब वे चल बसे, तब उनकी मानसिक अवस्था जितनी अच्छी थी, उतनी उनके पिछले बीस वर्षोमे कभी नही थी। पिछले बीस वर्षोसे उन्हे सूक्ष्म आत्मनिरीक्षणकी आदत थी। परतु मनकी जो उन्नत अवस्थावे अबतक प्राप्तन कर सके थे वह इन दो-तीन महीनोमे उन्होने बडी तेजीसे हासिल कर ली थी। अबकी बार ही मै देख सका कि जमनालालजीके दिलमे देह-भावका अवशेष भी नही रहा था, केवल सेवा-ही-सेवा रही। इससे अच्छी मृत्यु और क्या हो सकती है ? अतिम समयपर सेवा करते रहनेपर मृत्युका प्राप्त होना कितने भाग्यकी बात है ! इसलिए इस दु खदायी घटनामे भी जो सुखदायी बात छिपी हुई है, वह आपके सामने रखनेकी मेरी इच्छा हुई। हमे भी ऐसी मृत्युकी परमेश्वरसे याचना करनी चाहिए।

तुलसीदासने रामायणमे राम-बाली-सवाद दिया है। भगवान् रामका बाण लगनेपर बालीने रामको उलहना दिया। तब वे कहते है "ओ मेरे प्यारे बालक, मैंने तो तुझपर बाण नही, प्रेम बरसाया है। अगर तुम चाहो तो मै तुम्हे जिंदा रख सकता हू। बालीने उस समय जो जवाब दिया वह मननीय है। उसने कहा, "आज तो आपके दर्शन भी मिले और मृत्यु भी। आगे जब मृत्यु मिलेगी तब आपका दर्शन मिलेगा यह कौन बता सकता है ? इसलिए मै अभी मरना ही पसद करता हूँ। जब आपके दर्शन हो रहे है तभी मृत्युका आलिगन करना मै अपना भाग्य समझता हू।" इतना कहकर बाली मुक्त हो गये। उन की आत्मा राममय हो गई। चित्तका शोधन करते-करते उच्च अवस्था प्राप्त करनी चाहिए और उसी हालतमे देह छोडनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि जमनालालजीको भी ऐसी ही मृत्यु प्राप्त हुई है। इसलिए यह दु.खकी बात नही, खुशी और ईर्ष्याकी बात है।

हम उनके अनेक गुणोका वर्णन कर सकते है। उनका सबसे बडा गुण यह था कि सेवा करते समय वे अपनी सेवाका हिसाब तो रखते ही थे, परतु इस सेवाका मापन मुख्यत अपने हृदयकी परीक्षा लेकर ही करते थे। उनका विश्वास था कि जिस सेवाका परिणाम चित्त-शुद्धिके रूपमे होता हो वही सेवा सच्ची है। जितनी मात्रामे यह परिणाम कम दिखाई देगा उतनी ही वह सेवा अधूरी व जिस सेवासे चित्त-शुद्धि बिलकुल ही नही होती हो वह झूठी। वे हर प्रकारकी सेवाको चित्त-शुद्धिकी कसौटीपर कसा करते थे और चित्त-शुद्धिकी कसौटीको ही वह सेवाकी कसौटी मानते थे। मनकी ऐसी पवित्र अवस्थामे जो जीव शरीर छोडकर चला जाता है वह जाता ही नही बल्कि छोटासा शरीर त्यागकर समाज रूपी व्यापक देहमे प्रवेश करता है। शरीर आत्माके विकासके लिए है, परतु जिनकी आत्मा महान् है उनके विकासके लिए मानव-देह छोटा-सा पडता है। ऐसे समय वह महान् आत्माए कभी-कभी अपने दुर्बल शरीरको छोड जाती है व देहरहित अवस्थामे अधिक सेवा करती है। जमनालालजीकी यही स्थिति है। आपके व हमारे शरीरमे उन्होने प्रवेश किया है, ऐसा मै तो मानता हू। इसका असर हम सबपर होगा ही, परतु हमे अपने हृदयके द्वार खुले रखना चाहिए। एक छोटी-सी मिसाल उनकी पत्नीकी मै दू। वह एक सीधी-सादी देवी है, विशेष पढी-लिखी भी तो नही है, परतु जमनालालजीकी मृत्युने उन्हे अपना जीवन सेवा-कार्यमे समर्पण करनेकी प्रेरणा दी। अपनी सारी निजी सपत्ति भी देश-कार्यके ही लिए समर्पण करनेका सकल्प उन्होने किया। जमनालालजीकी मृत्युका यह परिणाम हुआ। सदेह आत्मा जितना असर नही कर पाती उतना या उससे कितना ही अधिक विदेह (यानी देह बिना) आत्माने किया। यह एक ऐसी ही मिसाल है। भविष्यमे ऐसे और भी उदाहरण हो सकते है क्योकि महान् विभूतिया देह छोडनेपर ही अधिक बलवान बनती है। सतोके उदाहरण हमारे सम्मुख है ही। उनके जीवनकालमे समाजने उनका आदर करनेके बजाय छल ही किया। देह जानेके बाद देह बिना रहकर ही वे लोगोके चित्तपर अधिक प्रभावशाली परिणाम अकित कर सके। ऐसे सतोमे छोटा-सा

ही क्यो न हो जमनालालजीका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए उन्होने जिस प्रकार अपनी सारी ताकत लगाकर जो सेवा-कार्य किया, उससे भी अधिक शक्तिसे वह कार्य आगे बढाते रहने की प्रेरणा ईश-कृपासे हमे मिल सकती है। यह प्रेरणा ग्रहण करनेके लिए हमारे हृदय-द्वार खुले रहे, इतनी ही प्रार्थना परमात्मासे कर मै अपनी श्रद्धाजलि समाप्त करता हूँ।[1]

सर्वोदय : मार्च, १९४२

: १५ :

खादीका समग्र-दर्शन

जेलमे तटस्थ चितनके लिए थोडा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आदोलनके विषयमे और हिदुस्तान तथा ससारकी सारी परिस्थितिके विषयमे बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगडी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चितन हम वहा करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छूटनेके थोड़े ही दिन बाद जापान और अमेरिकाके लडाईमे शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड गई। इसलिए जेलमे किये हुए कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ हुए। इस युद्धके विरोधमे हम प्राय तीन कारण दिया करते थे पहला कारण था युद्धकी हिसकता, दूसरा दोनो पक्षोकी—चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा, और तीसरा यह कि हिदुस्तानकी सम्मति नही ली गई। लेकिन जापान और अमेरिकाके मैदानमे कूद पडनेके बाद तो अब करीब-करीब सारा ससार ही युद्धमे शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्यके हाथमे नही रहा, वरन् मनुष्य ही युद्धके आधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढहै। हमारे युद्धविरोधका यह और

---

१. श्री जमनालाल बजाजके निधनपर हुई शोक सभा में (१२ फरवरी, १९४२ को) दिया गया भाषण।

एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) मे भाषण देते हुए मैंने इसीपर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार ससारके सभी बडे राष्ट्रोके युद्धमे शरीक हो जानेसे, हिदुस्तानकी, जो कि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमे ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है। अग्रेजी राजसे पहले हिदुस्तान स्वावलबी था। इतना ही नही, वह अपनी जरूरते पूरी करके विदेशोको भी थोडा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरजाम, वगैरामे जो परावलम्बन है, उसकी बात मै नही कहता। हालाकि अगर अहिसाका रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बातका विचार भी करना ही पडता है। लेकिन मै तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओकी ही बात कह रहा हू। ये चीजे आज हिदुस्तानमे नही बनती और फिलहाल वे बाहरसे कम आ सकेगी। लडनेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमे होगे, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रोतक न पहुचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेगे। अमेरिकासे माल आने लगे, तो जापान उसे डूबो देगा और जापानसे तो माल आ ही नही सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना कम हो गया या बन्द हो गया, तो हिदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहा बनानेके विषयमे सरकार, अगर हेतुपूर्वक नही तो परिस्थितिके कारण उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लडाईपर केन्द्रित है, इसलिए उसे दूसरी गभीर योजनाए नही सूझेगी। गभीरतासे जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्धक विषयमे ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिदुस्तानका जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अगरेजोके कब्जेमे बनाये रखना—भर हमारा कर्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नही।

ऐसी अवस्थामे हम कार्यकर्ताओपर बहुत बडी जिम्मेदारी आ पडती है। उस दिन दादा धर्माधिकारी मेरे पास आये थे। उनसे मैंने अपनी इस

दशाका जिक्र किया था। उसके विषयमे उन्होने 'सर्वोदय'में एक टिप्पणी लिखी है। यो लोगोपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नही होती, उसके लिए लोगोकी मिन्नते करनी पडती है। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लडाईकी परिस्थितिमे लोगोकी माग हम पूरी नही कर सकते। ऐसे सकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सके, तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुजाइश रहेगी।

जाजूजीने 'खादी जगत्' द्वारा हाल हीमे एक योजना पेशकी है। उसमें उन्होने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोको जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे, लेकिन सरकारकी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अशमे खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्राय मजूर करना पडेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो जहा हम प्रवेश नही पा सकते, वहा धीरे-से अपनी पोटली रख देते है। हमारे घरपर कब्जा करनेवालेसे हम कहते है, "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिलकुल भर गया है। वह देखो, उस कोनेमे थोडी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहा पडी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यसे अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणोपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परतु इस प्रकारकी अकाल-पीडित खादी खादीकी बुनियाद नही हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नही है। खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है। खादीकी अतिम योजनामे भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा, और आजसे कही अधिक रहेगा। लेकिन वह खादीकी सम्पूर्ण योजनाकाएक अगमात्र है।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलबन जारी है उससे, यानी इस गावमे चार वस्त्र-स्वावलबी आदमी है, उस तहसीलमे सौ-दो-सौ है, इसी प्रकार दूसरे गावोमे भी वस्त्र-स्वावलबन शुरू करते रहनेसे, भी हमारा मुख्य काम नही होता। यह तो चौराहोपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी

बत्तियां लगानेके समान है। इन बत्तियोका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारो तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौककी बत्तिया घरके चिरागोका काम नही देती। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलबन भी खादीका मुख्य कार्य नही है।

खादीकी नीव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है उसी तरह वह अपना कपडा अपने घरमे बनावे। शायद शुरूसे ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोको थोडी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोकी खादीकी माग बढेगी। आजके तरीकेसे हम उसे पूरा नही कर सकेगे। ऐसी स्थितिमे अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेगे, तो हम दोषी समझे जायेगे। और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा। क्योकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस वर्षोमे एक गिरे हुए राष्ट्रको खडा कर दिया। उन्नीस सौ अठारहमे जर्मनीकी पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अडतीस मे वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। रूसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस बरसोमे ही कमाई। इतने समयमे उसने दुनियाको मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनो प्रयोग हिसामय या हिसाश्रित है, इसलिए उनकी स्थिरता खतरेमें है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादीको भी इसी प्रकार बीस वर्षतक मौका दिया गया। इतने समयमे खादी अधिक प्रगति नही कर सकी, इसकी कई वजहे है। इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हमे अपने तई अपना धिक्कार करनेकी जरूरत नही है। फिर भी ऐसे सकटके मौकेपर अगर हम लाचार बन गए, तो, जैसा कि मै कह चुका हू, खादीके लिए एक कोना दिखाकर उतनेमे सतुष्ट रहना पडेगा। लेकिन यह खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिसाकी योजनामे करीब-करीब केन्द्रस्थान है—छोड देनेके समान है। कम-से-कम हिदुस्तानमे तो खादी और अहिसाका गठ-बधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगोकी माग बढेगी तो हम उनसे कहेंगे, 'सूत कातो।' तब लोग कहेंगे, 'हमें पूनिया दो।' हमारे आदोलनमें पूनियोकी समस्या बडी टेढ़ी है। पूनियोके बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन पूनियोका सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धतिसे अबतक हल नही कर सके है। तब, लोगोंसे कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो।' इसमें तातका सवाल आयेगा। पक्की तांतकी व्यापक मांग एकदम पूरी नही की जा सकती। इसलिए काम रुक जायगा। इसका ज्यो-ज्यो मैं विचार करता हूँ त्यो-त्यों मेरी निगाह उस 'दशयत्र पीजन'पर ठहरती है। पाच और पाच दस अगुलियोसे जो काम होता है, उसे 'दशयत्र' कहते है। सोम रस दस अगुलियोसे निचोडा जाता है। इसलिए वेदोमे 'दशयत्रा सोमा·' का उल्लेख है। उसी तरह यह तुनाईका दशयत्रपीजन है। वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतोसे बचानेवाला साबित होगा। रबर लगानेके नये तरीकेकी खोजने इस दशयत्र-पीजनमें क्राति कर दी है। उसके कारण यह काम आसान हो गया है। यह बात सच है कि रबर सर्वसुलभ नही है। लेकिन उसका भी विचार हो सकता है। और वह भी इस कामके लिए अनिवार्य तो नही है। उस दिन मै खरागना गया था। वहा मैंने इस दशयत्र-पीजनका प्रदर्शन किया। दर्शकोमेंसे एकने कहा, 'जरा मै भी देखू।' और देखते-देखते उसने पन्द्रह-बीस मिनिटोमे, अगर अच्छी नही तो, साधारण पूनी बना ली। इसे सीखना इतना आसान है। उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है। इस सम्बन्धके कुछ आकडे वल्लभभाई (भगवानजी) ने अपने एक लेखमें दिये है। नागपुर जेलमे मैंने जो प्रयोग किये उनके आधारपर मैंने भी जेलसे ही एक लेख भेजा था। रामदासजी गुलाटीको जब तुनाई करके दिखाई गई, तब वह कहने लगे कि मिल की पूनीके लगभग सभी गुण इस पूनीमे है और वैज्ञानिक दृष्टिसे यह पूनी करीब-करीब निर्दोष है। इस दशयत्र-पीजनका सर्वत्र प्रचार करनेके लिए ग्रामसेवा-मडलमें और अधिक शोध और प्रयोग होने चाहिए।

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूतकी खादी बुने। इसकी तरफ जाजूजीने सबका ध्यान दिलाया है। हिंदुस्तानमे बुनकरो-

का बहुत बडा वर्ग है। लडाईके समय उनके लिए कोई इतजाम नही हो सकेगा। इसलिए उन्हे भी इस खादीके काममे लगाना चाहिए। मै कई तरहके आकडोपर-से इस परिणामपर पहुचा हू कि आज दूसरोका काता हुआ भला-बुरा सूत बुननेके लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुननेमे नही मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है। इस विषयमे भी व्यापक प्रयोगकी आवश्य-कता है।

इसीके साथ-साथ वस्त्र-स्वावलबी लोगोका सूत जहाका वही बुनवानेका प्रबध करना होगा। इसके लिए स्वावलबी व्यक्तियोके सूतमे उन्नति होना जरूरी है। सूतमे उन्नतिकी बात आते ही फिर 'दशयत्र-पीजनपर ही ध्यान जाता है। साधारण 'यत्र-पीजन' वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तोभी लडाईके जमानेकी व्यापक योजनामे वह निरुपयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यत्रसे उतनी शास्त्रीय पूनी नही बनती, जितनी इस दशयत्रसे बनती है।

परन्तु इसमे यह मानी हुई बात है कि यह दशयत्र-पीजन या तुनाई कपास मे ही होनी चाहिए। आज सब जगह प्राय सारी क्रियाओमे रुई ही काममे लाई जाती है। अब रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेसे अच्छी बडी-बडी डोडीवाली कपासका सचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमे प्राय एक भी बिनौला नही बिगडेगा। किसान छाट-छाटकर अच्छी-अच्छी डोडिया बीनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमे अनेक लाभ है। रुईसे शुरू करनेमे हम उन्हे गवा देते है।

खादीका अर्थ-शास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नीवपर खडा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नही सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको खादीकी प्रक्रिया मान लेना खादीको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्ताओको समग्र-दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए, कहा जाता है किमिले सस्ती पडती है। हम हिसाब करके दिखादेते हैं कि वे महंगी है। मिलोमे व्यवस्थापक वर्गका जबरदस्त खर्च, यत्र, यत्रोका घिसना, मालका लाना-लेजाना, मालिकोका अजस्र मुनाफा, आदि कई आपत्तिया स्पष्ट ही है। लेकिन फिर भी अगर मिल सस्ती मालूम होती है, तो, या तो उसमे कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नही कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यात्रिक रचनाकी जजीरकी एक कडी है। बडे कारखानोमे मुख्य उद्योगके साथ-साथ उससे सबध रखनेवाले दूसरे भी फुटकर उद्योग कराये जाते है। कारखाना उन उद्योगों के लिए नही चलता। इसलिए उन्हे गौण पैदावार कहते है। इन गौण उद्योगोसे जो आमदनी होती है उससे प्रधान उद्योगको लाभ होता है और यह सब मिला वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार-शृखलाकी कडी है।

मिलोके साथ-साथ रेल आई। शातिके समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियोको भी उनसे लाभ होता है। लोगोको लबे सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-सम्बन्ध भी दूर-दूरके स्थानोमे होने लगते है और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोके विषयमे सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजे मिलकी मददके लिए उप-स्थित है। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय, तो वह बहुत महंगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय, तो वह महगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असबद्ध विचार नही किया जा सकता। किसी सुदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें, तो क्या होगा? कटी हुई नाक खूबसूरत थोडे ही लगेगी? उनमे तो आरपार छेद

दिखाई देगे। लेकिन ऐसे पृथक् किए हुए अवयव अपनेमे सुदर न होते हुए भी, सब मिलकर शरीरको सुन्दर बनाते है। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमे रखकर खादीको उसका एक अग मानेगे, तब खादीजीवन मिलजीवन की अपेक्षा कही सस्ता साबित होगा।

खादीमे लाने-लेजानेका सवाल ही नही है। वह तो जहाकी वही होती है। घरकी घर हीमे व्यवस्थित-रूपसे रहती है। याने व्यवस्थापकोका काम नही रह जाता। कपडेकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नही जायगी इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोमे रहेगा। चुनी हुई डोडिया घरपर ही ओटी जायगी, जिससे बोनेके लिए बढिया बिनौले मिलेगे और खेती विशेष सपन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नही पडेगे। वे सीधे गायको मिलेगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और बैल मिलेगे। वस्त्र-स्वावलबनके लिए आवश्यक डोडिया सलाई-पटरी या उसीकी विशेषताए रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायगी। वह ताती साफ रुई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह दशयत्रसे भलीभाति धुनी जायगी और सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमे सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपडा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अशमे कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस सबमे तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड दीजिये और और देखिए कि वह सस्ती पडती है कि महगी। आप पायेगे कि वह बिलकुल महगी नही पडती। जब खादीका यह 'समग्र दर्शन' आपकी आखोमे समा जायगा, तो खादीकार्यका आरभ कपासकी बजाय रुईसे करनेमे कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझमे आ जायगा। और इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य सागोपाग करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतत्र विषय भी है। पाच-छ साल पहले मै रेलमे अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आखे कमजोर है, उसमे फिर गाडीके धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्हलकर कातनेपर भी थोडा-बहुत टूटता ही था।

टूटते ही मै अपने सिद्धातके अनुसार उसे फिर जोड लेता था। मेरी बगलमें एक बैठे थे। बी० एस्-सी० पास थे। बडे ध्यानसे ये सारी बाते निहार रहे थे। थोडी देरके बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हू।" "पूछिए", मैंने कहा। वह बोले, "आप टूटे हुए तारोको जोडनेमे इतना वक्त खोते है, इससे उनको वैसे ही फेक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नही होगा ?" मैंने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरहका है। एक आशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेसे एकागी अर्थशास्त्रको छोडकर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले, "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा, "आप कहते है कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नही। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो ? कितना फीसदी आप माफ फरमायेगे ?" उन्होने कहा, "पाच प्रतिशत तक माफ कर देनेमे हर्ज नही है"। तब मैंने कहा, "पाच प्रतिशत सूत, जो कि जुड सकता है, फेक देनेका क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरह सौ एकड कपास खेतीमेसे बैठे-बैठे पाच एकडकी उपज यो ही फूक देता है। तातके सौ कारखानोमेसे पाच कारखानोको बेकार कर देता है। कातनेवालोंके लिए बनाई गई सौ इमारतोमेसे पाच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोमेसे पाच फाड देता है।" इत्यादि इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पाच-प्रतिशत का न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारोको वह ग्रास कर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नही है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमे बहुत-सी जूठन छोडकर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं। क्योकि जूठन छोडनेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मा तक, सबकी मेहनतपर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोडनेसे माका नाराज होना काफी नही है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमाये।

इसीलिए हर चीज सामग्रयकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए

भगवद्गीतामे ईश्वरके ज्ञानके पीछे "असशय समग्रम्" ये विशेषण लगाये गए है। हमारे खादीके आदोलनमे समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढायेगे, तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।[1]

ग्राम-सेवा-वृत्तसे : सर्वोदय, अप्रैल, १९४२

: १६

उद्योगमें ज्ञान दृष्टि

कलके भाषणमे मैने सर्वजनोके लिए जो कुछ मुझे कहना था, सो कहा। आज मेरे सामने विशेषकर स्कूलके लडके और शिक्षक है। उन्हीके लिए कुछ कहूगा।

मेरी दृष्टिसे हमारे शिक्षणमे सबसे बडी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नही होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते है। हिंदुस्तानमे खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहाँ फी आदमी सवा एकड जमीन है। इसके विपरीत फ्रासमे, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति-मनुष्य साढे तीन एकड जमीन है। इसपरसे मालूम होगा कि हिदुस्तानकी हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिदुस्तानमे अकेली खेती ही होती है, और कुछ नही होता। अमेरिका (सयुक्त राज्य) ससारका सबसे सघन देश है। उसमे खेती और उद्योग दोनो बहुत बडे परिणाममे चलते है। वह युद्धके लिए रोज पचपन करोड रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देशकी जनसख्या चालीस करोड है। इतने लोगोको हर रोज भोजन देने के लिए, यहाके हिसाबसे प्रति दिन पाच करोड रुपया खर्च लगेगा।

---

१. ग्राम-सेवा मंडलकी सर्वसाधारण सभामें (९ जनवरी १९४२ को) दिया गया भाषण।

अमेरिका इतना धनवान देश है कि वह रोज जितना खर्च करता है, उसमे हिदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये है। इसलिए हिदुस्तानको कृषिप्रधान कहना पडता है। अब जरा इगलैण्डकी तरफ नजर डालिए। वहा भी खेतीकी आमदनी, यहाकीही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है, और उद्योगकी होती है पाच सौ बारह रुपये। इस परसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहा है। यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहाके विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभीको उद्योगमे निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हे विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होना चाहिए। वहा जो आदमी काम करता हो, उसे किस खाद्य पदार्थमे कितना उष्णाक, कितना ओज, कितना स्नेह है, आदि सारी बातोकी जानकारी होनी चाहिए। उसमे यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्रके मनुष्य को किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी।

(आ) शौचको तो सभी जानते है। लेकिन स्कूलवालोका काम इतनेसे नही चलेगा। 'मैलेका क्या उपयोग होता है ? सूर्यकी किरणोका उसपर क्या असर होता है ? मैला अगर खुला पडा रहे तो उससे क्या नुकसान है ? कौनसी बीमारिया पैदा होती है ? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढती है ?"—आदि सारी बातोका शास्त्रीय ज्ञान हमे हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लडका बीमार हो जाता है। वह क्यो बीमार हुआ ? बीमारी मुफ्तमे थोडे ही आई है ? तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथिकी तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यो आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमे शिक्षणकी बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग

आया और गया; हम कोरे-के-कोरे रह गये !' यह दूसरोके साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज नही होना चाहिए ।

(ई) तुम यहा सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो । तुम्हे बधाई है । लेकिन खादी-क्रियाके बारेमे शास्त्रीय प्रश्नोके जवाब यदि तुम न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति केद्र यानी कारखानेमे फर्क ही क्या रहा ? लेकिन मै तो अपने कारखानेसे भी इस ज्ञानकी आशा रखूगा ।

मुझसे कहा गया है कि यहाके लडके अग्रेजी वगैराकी परीक्षामे पास होते है, दूसरे विद्यालयोके लडकोसे किसी तरह कम नही है, आदि आदि । लेकिन लडके पास होते है इसमे कौनसी बडी बात है । हमारे लडके नालायक थोडे ही है ? जरा विलायतके लडकोको इतिहास और भूगोल मराठीमे सिखाकर देखिए तो ? देखे कितने पास होते है । कई साल पहले बडौदेमे एक साहब आया था । उसने गीताका पूरे बीस वर्षतक अध्ययन किया था । यो उसने अच्छा भाषण दिया । परन्तु वह सस्कृतके वचनोके उच्चारण ठीक नही कर सका । उसने कहा—

'कुरु कम्मैव टस्माट् ट्वम्'

(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्)

बीस-बीस साल अध्ययन करनेपर भी उनका यह हाल है । हमारे यहा सैकडो आदमी उनकी भाषामे खूब बोल लेते है । लेकिन यह हमारी इस भूमिका ही गुण है । हजारो वर्षोसे यहा विद्याकी उपासना होती आई है । यह कोई यहाके पाठकोका गुण नही है । इसलिए हमे अग्रेजी भाषाके ज्ञानसे सतोष नही मानना चाहिए । हमे आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञान, यत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रो और विज्ञानोकी इस तालिकाको देखकर आप घबराइये नही । आप उन्हे उद्योगके साथ बडी आसानीसे सीख सकेगे ।

दो विद्याए सीखना आवश्यक है एक हमारे आसपासकी चीजोको परखनेकी शक्ति, अर्थात् विज्ञान । और दूसरी, आत्मज्ञानपूर्वक सयम करनेकी शक्ति, अर्थात् आध्यात्म । इसके लिए बीचमे निमित्तमात्र

भाषाकी जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मैं चिट्ठीमे कुछ भी न लिखू, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुचा देगा। भाषा विद्याका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती बात नही है। विज्ञान और आध्यात्म ही विद्या ह। उसीका मै विचार करूगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मै रोता बैठूगा? मै बढईके पास जाकर उसे सुधरवा लूगा। उसी तरह, अगर मुझे बिच्छूने काट खाया, तो मुझे रोते नही बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी काहिए। इसी प्रकार आत्मा की अलिप्तताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शालाकी परीक्षा होगी। मै भाषाका पर्चा निकालनेकी झझटमे नही पडूगा। लडकोकी बोलचालसे ही मै उसका भाषा-ज्ञान भाप जाऊगा।

विद्यार्थी भोजन करते है और दूसरे लोग भी भोजन करते है। लेकिन दोनोके भोजन करनेमे फर्क है। विद्यार्थियोका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमेसे कितना चोकर निकलता है। मान लीजिए कि सेरमे आठ तोले चोकर निकला। यानी दस-प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पडोसीके यहा जाकर वहाका चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटेमेसे ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस-प्रतिशत चोकर निकलनेमे क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेटमे जाय, तो नुकसान क्यो होगा?— आदि प्रश्न उसके मनमे उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा, तो, जैसा कि गीतामे कहा है, उसका हर एक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरहका बुखार नही आयगा। जहा हर एक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे किया जाता है, वह पाठशाला है और जहा वही ज्ञान कर्म-दृष्टिसे होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धिसे, ज्ञानदृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमे थोडा खर्च तो होगा। लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूलमे जो चरखा होगा

वह बढिया ही होगा। चाहे जैसे चरखेसे काम नही चलेगा। स्कूलमे काम चाहे थोडा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेसे जितने बिनौले निकलेगे, वे भी तौल लिए जाएगे। रोजियामेसे जब इतने बिनौले निकले, तब व्हेरममेसे इतने क्यो, इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटरके आकारका होकर भी दोनोके वजनमे इतना फर्क क्यो ? बिनौलेमे तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य कौन-से है। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजारसे नही खरीदा जायगा। स्कूलमे ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेगे, तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरएक काम अगर इस ढगसे किया जाय, तो वह कितना मनोरजक होगा ? फिर उसे कौन भूलेगा ? अकबर किस सन्मे मरा, यह रटनेकी क्या जरूरत है ? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्यो सवार हुआ ? मै इतिहास रटनेको नही पैदा हुआ हू। मै तो इतिहास बनानेके लिए पैदा हुआ हू।

शिक्षककी दृष्टिसे हरएक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए, मैलेकी ही बात ले लीजिए। वह बहुत बडा शिक्षण देता है। मैने तो उसके बारेमे एक श्लोक ही बना डाला है **"प्रभाते मलदर्शनम्"** (सबेरे मैलेका दर्शन करो)। सबेरे मैलेके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्यकी स्थितिका पता चलता है। मैलेमे अगर मूगफलीके टुकडे हो, तो वे पेटपर पिछले दिन किए हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायेगे। उसके अनुसार हम अपने आहार-विहारमे फर्क कर लेगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिये, आखिर मैला तो गदा ही रहेगा। सबेरे उसके अवलोकनसे देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मा जाडोमे जिस तरह बच्चोको कपडेसे ढकती है, उसका कोई भी अग खुला नही रहने देती, उसी तरह हम भी बडी सावधानीसे सूखी मिट्टीसे अगर मैलेको ढक दे और यथासमय उसे खेतमे फैला दे, तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढायेगा।

इसी तरह पाठशालामे प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा। लडका बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकानका मुख्य खभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खडा रह सकेगा ? नही। उसी तरह हमे भी अपने मेरु-दडको हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशालामे यदि इस प्रकारसे काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी। उसका दु ख-दन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञानकी प्रभा फैलेगी।

स्कूलमे होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलोको सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होगे। श्री रामदास स्वामीने कहा है, 'देवताका वैभव बढाओ।' लोगोको अपने घर मजानेके बदले शालाए सजानेका शौक होना चाहिए। उन्हे शालाकी आवश्यक चीजे उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही बस नही है। एकाध दानवीर मिल जाता है और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लडकोको किस स्कूल में भेजता है ?—सरकारी स्कूलमे। सो क्यो ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओको दानके योग्य मानते है, तो उन्हे सब तरहसे सपन्न और सुशोभित करके अपने लडकोको वही क्यो नही भेजते ?

लडके राष्ट्रके धन है। लेकिन उनके भोजनमे न दूध है, न घी ! फी लडकेका मासिक भोजन खर्च ढाई रुपये है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नही सकते, यह तो माना। लेकिन फिर भी जितना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनोमे यह शिकायत थी कि जेलमे कैदियोको उचित खुराक नही मिलती, दूध नही मिलता। गाधीजीकी सूचनासे बाहरके डाक्टरोने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है। उनके निर्णयके अनुसार हरएक व्यक्तिको कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए। और सरकार अगर कैदियोको रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोमें ही इस नियमपर अमल नही करते, तो सरकारसे आशा

करना कहातक शोभा देगा ? लडकोको दूध मिलना ही चाहिए । उन्हे अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए । वरना उनमे तेज नही पैदा होगा ।

मैने कुछ बाते शिक्षकोके लिए, कुछ छात्रोके लिए और कुछ औरोंके लिए कही है । ये सब मेरे अनुभवकी बाते है । आशा है कि उनका उचित उपयोग होगा ।[१]

ग्राम-सेवा वृत्तसे : सर्वोदय, मई १९४२

. १७
ग्राम-सेवाका तंत्र

मैने आज मुख्यत मगनवाडीके विद्यार्थियोंके दर्शनके लोभसे यहा आना स्वीकार किया । मै प्रमाणपत्र देने आया ही नही हू । क्योंकि प्रमाणपत्रमे मुझे श्रद्धा नही है । जिन विषयोमे मुझे प्रमाणपत्र मिले, उन विषयोका मेरा ज्ञान नहीके बराबर है और जिन विषयोमे मैने परीक्षा ही नही दी, उनका मुझे अच्छा ज्ञान है । लेकिन यहा दिये गये प्रमाणपत्र परीक्षाके नही है, इसलिए मै आशा करता हू कि वे निरर्थक नही ठहरेंगे ।

यहासे विद्यार्थी देहात जायेगे । उन्होने देहातकी सेवाके लिए ही शिक्षण पाया है । इस समय देहातमे कार्य करनेकी काफी गुजाइश है । और मै समझता हू कि आप सब लोग गावोमे जाकर किसी-न-किसी उद्योगको शुरू करेंगे । लेकिन आपको वहा बहुत सावधानीसे रहना होगा । देहातियोके जीवनका मान (दर्जा) बहुत कुछ नीचा है । लेकिन उनका सेवाका मान बहुत ऊचा है । इसलिए आजतक केवल सतोने ही देहातोकी सेवा की है । दूसरोने तो उन्हे अपने फायदेके लिए चूसा है । इसलिए वहा सेवाका प्रमाण पत्र आसानीसे नही मिलता । वहा हमें रातदिन अतद्रित रहकर काम करना होगा । देहातके लोग अपढ है; इसलिए हमे यह न समझना चाहिए

---

१. तुमसरकी 'तिलक राष्ट्रीय शाला'के विद्यार्थियों और गांवके तरुणोंकी सभामें (१४ फरवरी, १९४२ को) किया प्रवचन।

कि हमारी अल्पस्वल्प विद्यासे काम चल जायगा। यह सही है कि देहातियोमे इल्म और हुनरकी कमी है। लेकिन वे अपने कामसे वाकिफ हैं। जो काम करते है, सो ठीक-ठीक करते है। उदाहरणके लिए खेतीके कामको ही ले लीजिए। उस उद्योगमे वे काफी होशियार होते है। इसलिए यह नही समझना चाहिए कि हमारे अधकचरे ज्ञानसे काम चल जायगा। हमारे ज्ञानकी कसौटी होगी। इसलिए हमें अतन्द्रित रहना होगा। यह कहनेका रिवाज-सा पड गया है कि देहाती लोग आलसी होते है। यह आक्षेप बिलकुल ही बेबुनियाद हो, सो बात नही। लेकिन बहुत बडे अशमे वह दतकथा ही है। शहरोकी तरह देहातोमे भी कुछ लोग निठल्ले होते है। लेकिन जिस कामको वे करते है, उसे इतना करते है कि उससे अधिककी अपेक्षा नही की जा सकती। ऐसी स्थितिमे देहातमे अगर हमारी उद्योगशीलता अपर्याप्त साबित हुई, तो हमे परीक्षामे फेल हुए समझना चाहिए।

जब हम देहातमे जायगे, तो हमारे सामने एक विराट जगत खुलेगा। कई स्त्री-पुरुषोसे सपर्क होगा। हमारा ध्यान अचूक उनके गुणोकी तरफ ही जाना चाहिए। दोषोकी तरफ प्रवृत्ति हरगिज नही होनी चाहिए। मैं मनुष्यके चित्तको घरकी उपमा दिया करता हू। घरमे दीवारे होती है। और दरवाजे होते है। मनुष्यके गुण उसके चित्तके दरवाजे है और दोष दीवारे। बिलकुल गरीब से गरीब के मकानमे भी एकाध दरवाजा तो होता ही है। गुणके दरवाजेमेंसे ही मनुष्यके चित्तमे प्रवेश करना चाहिए। दरवाजे मेसे अन्दर जाना सरल है। दीवारमे से घुसनेकी कोशिश की जाय, तो सिर फूटेगा। दोषोमेसे जो किसीके चित्तमे प्रवेश करनेकी चेष्टा करेगा, उसकी यही हालत होगी। इसलिए गुणग्राहक वृत्ति होनी चाहिए। दर-असल हमे सभी स्त्री-पुरुषोमे भगवान्‌की मूर्तिया दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब हमारा कार्य सुकर होगा।

हम ससारमे नाना वादोकी चर्चा सुनते है। अनेक पक्ष देखते है। लेकिन सेवकोको सभी वादो और पक्षोसे अलग रहना चाहिए। हमारे लिए सारे ससारमे दो ही पक्ष है। एक सेवक और दूसरा सेव्य या स्वामी।

हम खुद सेवक है और दूसरे सब स्वामी। हमे स्वामीकी सेवासे ही सतोष मानना है। यही सेवकका धर्म है। सेवकको दलबदियोसे क्या मतलब ? देहातमे गुटबन्दिया भरपूर होती है। यह भी नही कि उनके पीछे कोई सिद्धात होता हो। प्राय द्वेष और स्वार्थ होता है। सेवकको इस तरहके किसी भी दलमे नही पडना चाहिए। उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए। सेवा करना ही उसका काम है। हमारी सेवासे कौन खुश होता है और कौन नाराज, इससे हमे क्या करना है ? हृदयस्थ-भगवान् प्रसन्न हो, इतना काफी है।

उद्योग और विद्या अलग-अलग नही है। जहा इन्हे अलग कर दिया जाता है, वहा दोनो बेकार हो जाते है। विद्याको अगर सिर कहा जाय, तो उद्योग उसका धड कहलायेगा। दोनोको अलग करना, दोनोको मार डालना है। अर्थात् राहूके जैसी हालत हागी। लेकिन यहा तुम्हे विद्या और उद्योगका लाभ एकत्र हुआ है। तुम्हे उद्योगके साथ-साथ ही विद्या दी गई है। अत तुम्हारी विद्या वीर्यहीन नही होगी। तो भी अब देहातमे जानेपर तुम्हे कई भिन्न-भिन्न काम करने पडेगे। प्रबध देखना, हिसाब लिखना, पढाना, प्रसगवश व्याख्यान देना, आदि कई बाते ग्राम सेवाके सिलसिलेमे करनी ही पडती है। लेकिन मै कहूगा कि इन सब कामोको करते हुए भी तुम्हे रोज कुछ समय प्रत्यक्ष उद्योगमे बिताना चाहिए। इससे तुम्हारी विद्या ताजी रहेगी, तुम्हे नये-नये शोधोका ज्ञान रहेगा और नये शोध सूझते रहेगे। कई बार ऐसा पाया जाता है कि अच्छे-अच्छे उद्योगमे निपुण लोग भी जब सेवा-कार्य करने लगते है, तो शरीरश्रम करना भल जाते है। कहते है, 'वक्त ही नही मिलता।' लेकिन इससे कार्यकर्ताओकी तथा उनके कार्यकी हानि ही हुई दिखाई देती है। उद्योगसे नित्य परिचय न रहनेके कारण ज्ञान पिछड जाता है। फिर पुराने ज्ञानकी पूजीसे ही काम चलाया जाता है। यह ठीक नही है। इसलिए ग्राम-सेवकको प्रतिदिन कुछ समय—मेरे विचारमे, अगर सभव हो तो, आधा समय—उद्योगके लिए देना चाहिए। उसे ग्रामसेवाका अग ही समझना चाहिए।

आप देहातोमे जायंगे; लेकिन वहाकी जमीन कडी होती है। यहां सस्थामे तुम्हारे लिए सारी सुभीतेकी चीजे मौजूद है। देहातोमें सब असुविधाए मौजूद होगी। फच्चर टूट गई, बढईगीरी आती नही, बढई मिलता नही, कोल्हू रुका पडा है—ऐसी अवस्थामे हिम्मत नही हारनी चाहिए। धीरज रखना चाहिए। छोटी-से-छोटी बातका पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। बल्कि छोटी चीजोको अधिक महत्व देना चाहिए। बडी बाते सहसा कोई भूलता ही नही; क्योकि वे बडी ठहरी। इसलिए छोटी मालूम पडनेवाली बातोपर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। अन्यथा उनके ज्ञानके अभावमे कही गाडी न रुक जाय। बुनाईमें खासी निपुणता प्राप्त करके एक आदमी देहातमे करघा लगाकर बैठा। लेकिन वह बुननेमे निपुण होते हुए भी करघा जमाना भली-भांति नही जानता था। इसलिए उसके करघेपर कपडा, जितना चाहिए, उतना अच्छा नही बुना जा सकता था। जो कोई उस करघेपर कपडा बुनने जाता, उसका कपड़ा बिगड जाता। यह किस बातका नतीजा था? करघा जमाना एक तुच्छ बात है ऐसा समझकर उसपर ध्यान न देनेका?

मुझे जो कुछ कहना था, मैंने थोडेमे कहा है। तुम्हें आज यहा सस्थाकी तरफसे प्रमाणपत्र तो मिले है, लेकिन सच्चे प्रमाणपत्र जनतासे ही प्राप्त करने है। और वे तुम्हे सच्ची सेवाके गुणके लिए ही मिलेगे।

अंतमें आशा करता हू कि आपलोग देहातोमे जाकर जनताकी भली-भाति सेवा करके वास्तविक प्रमाणपत्रोके अधिकारी बनेंगे।[1]

ग्राम-सेवावृत्तसे : सर्वोदय, जून १९४२

---

१. मगनवाड़ी (वर्धा) में ग्राम सेवक विद्यालयके पदवीदान समारंभके अवसर पर (२९ अप्रैल, १९४२ को) अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

: १८ :

कृपया तशरीफ ले जाइये

मेरा आज व्याख्यान देनेके लिए आनेका इरादा नही था। जो भाई पहले मुझे बुलाने आये थे, उनको लौटा भी दिया था। उन्होने कहा कि फलाने बड़े सज्जनने आकर हमे समझाया है, तुम भी आओ। लेकिन मैने सोचा, जब इतने सज्जन पहले ही आ चुके है और आ रहे है, तो मेरे जानेकी जरूरत नही। यानी जो कारण वे भाई मेरे यहा आनेके लिए बतला रहे थे, वही मेरी दृष्टिमे न आनेके लिए अच्छा कारण था। लेकिन गोपालरावने बहुत आग्रह किया, इसलिए आना पडा।

मेरा न आनेका दूसरा भी एक कारण था। आजकल जितने मुंह उतने विचार बोले जाते है। मतभेदोका बाजार-सा लग रहा है। इस हालतमे मैंने सोचा कि जब इतने आदमी आपको अपनी-अपनी राये सुना चुके है, तो मेरा अपनी राय सुनाना शायद आपकी बुद्धिको अधिक भ्रममे डाल दे। गीतामे भगवानने अर्जुनसे कहा है कि बहुत सुन-सुनकर तेरी बुद्धिमे भ्रम पड गई है। इस भ्रमजालमेंसे जब छूटेगा, तब कही तुझे सच्चा ज्ञान होगा। आपके यहा पहले अगर दस आदमी आ चुके हो, तो मैं ग्यारहवा आकर सभव है, कि आपकी बुद्धिमे अधिक भ्रम पैदा कर दू। इससे कार्यकी हानि ही होगी। यह सोचकर मै आना नही चाहता था। लेकिन आग्रहवश आना पडा।

जवाहरलालजी बहुतदफा मौजूदा सरकारकी कडी टीका किया करते है। वह कहते है कि इसका कारोबार इतना अव्यवस्थित और निकम्मा है कि उससे बढकर निकम्मा दूसरा हो ही नही सकता। इस सरकारकी अक्षमताका का पार नही है। उनकी टीकासे मै पूरी तरह सहमत हू। लेकिन मेरे विचारमे यह हाल सिर्फ हिंदुस्तानकी सरकारका ही नही; दुनियाकी सभी सरकारोका है। लेकिन हिंदुस्तान-सरकारकी एक खुसूसियत है; उसने यहाकी प्रजाको निशस्त्र बना रखा है। इसलिए वह बडी निश्चित होकर बड़े आरामसे

राज्य करती थी। अब अचानक आफत आ गई है। उसका सामना करनेकी बुद्धि और ताकत अब हमारी सरकारमे नही है। लेकिन यह भारत-सरकार-की विशेषता है। परन्तु आज तो जगतके सभी राज्यतन्त्र बेकार साबित हो चुके है। इसका एक कारन है। उसपर आपको ध्यान देना चाहिए। जैसे-जैसे यन्त्रोकी क्षमता बढती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धिकी क्षमता घटती जाती है। इसलिए जहा देखिए, अव्यवस्थाका ही साम्राज्य फैला हुआ है।

जबसे अमेरिका जैसा बडा और प्रतापी राज्य युद्धमें शामिल हुआ है, तबसे युद्धका सारा कारोबार अमेरिकाकी ही सलाहसे चलता है। चौबीस हजार मील लबी दुनियाका सारा व्यवहार अमेरिका कहता है, हम करेगे। सामान इधरसे उधर हमारी सलाहसे जायगा, यूरोपका उद्धार हमारे जरिये होगा, हिंदुस्तानको हम बचायेगे, जापा नका मुकाबला हम करेंगे, आस्ट्रे-लियाकी मदद हम करेगे।

अमेरिकाकी तरफसे उसके अध्यक्ष, रूजवेल्ट यह कह रहे है। जो सबसे बुद्धिमान व्यक्ति होता है वही अध्यक्ष चुना जाता है, ऐसी बात नही। पुराने जमानेमे राजाका पुत्र राजा बनता था। कभी-कभी नसीबसे वह बुद्धिमान होता था। उसी तरह आज जो व्यक्ति चुने जाते है, वे भी नसीबसे ही बुद्धिमान होते है। ज्यादा सभव यही है कि उनमे अधिक बुद्धि नहीं होती। जिनमे बुद्धि कम और अहकारकी मात्रा अधिक होती है, वे ही अक्सर चुने जाते है। क्योकि ऐसे व्यवहारोंमे वे ही पडते है। बुद्धिमान तो दूर-दूर ही रहते है, क्योकि वे दुनियापर कम-से-कम सत्ता चलानेमे ही बुद्धिमानी समझते है। इसलिए याने अपती इस निष्ठाके कारण ही, राजकाजमे कम दखल देते है। अक्सर जो लोग राष्ट्रके नेता बन जाते है, वे बुद्धिसे श्रेष्ठ नही होते। उस देशकी आम जनताकी बुद्धिसे चाहे उनकी बुद्धि कम न हो। शायद कुछ अधिक भी हो। तो भी वे बुद्धिमान नही कहे जा सकते।

इसके अलावा, उनसे जब कोई सलाह पूछी जाती है, तो उन्हे फौरन जवाब देना पड़ता है। फौरन पूछने और फौरन जवाब देने के शीघ्र औजार

तैयार हुए हैं। पाच दस मिनिटमे दुनियाभरके कारोबारका जवाब देना पड़ता है। यह कोई हसीकी बात नही है। बेचारे क्या करें? जैसा सूझता है, जवाब देते हैं। इसलिए मै कहता हू कि कारोबार बुद्धिसे नही चल रहा है। सारा नसीबका खेल है।

इसलिए जबसे अमेरिका युद्धमें शामिल हुआ, तभीसे मुझे यह विश्वास हो गया कि यह युद्ध अब मानवके हाथमे नही रहा, बल्कि मानव ही युद्धके हाथमे चला गया है। जावा और मलायामे इनकी बुद्धि चकरा गई। सूझबूझ धरी रह गई। तबसे सामान्य मनुष्यको भी यह शका होने लगी है कि इतना बडा साम्राज्य चलानेवालोमें बुद्धिकी इतनी पोल और व्यवस्था-शक्ति की इतनी कमी कैसे रह गई। सिंगापुर और बर्मामे इनकी ऐसी दुर्दशा क्यो हुई?

वे कह सकते है कि तुम लडाईसे दूर-दूर रहते हो, इसलिए ऐसी बाते कर सकते हो। हमे जो सूझता है वह करते है। तुम अगर हमारी जगह होते और इतनी बडी जिम्मेवारी तुमपर होती, तो हमसे भी ज्यादा गलतिया करते।

मै कबूल करता हू कि हम काफी भूले करते। लेकिन मै यह पूछता हू कि यह जिम्मेवारी आपके सिर पर डाली किसने? वे जवाब देते हैं, "इतिहासने डाली है। पहले ईस्ट इण्डिया कपनी कायम हुई, इस देशसे तिजारत शुरू हुई, क्लाइवने ब्रिटिश राज्यकी नीव डाली, वारन हेस्टिंग्सने बाकायदा राज्यकारबार जारी किया। इस तरह इतिहासने धीरे धीरे जिम्मेवारी हमे सौंपी। अब हम उसे छोड नही सकते।"

हम कहते, "अगर आप इतने दूरसे यहा आ सकते थे, तो जा भी नही सकते है क्या? क्या वापस जानेसे इतिहासके पृष्ठ आपको रोकते है? जैसे आनेका इतिहास बना, वैसे जानेका भी तो इतिहास बन सकता है। आनेका इतिहास भद्दा और भयानक है। वापस चले जानेका इतिहास उज्वल और खूबसूरत होगा। उसमे सुन्दरता और नीतिकता होगी। आप ऐतिहासिक जिम्मेवारीके बोझसे नाहक क्यो दबे जा रहे है!"

दूसरे राष्ट्र भी इसी ऐतिहासिक जिम्मेवारीके भ्रमजालमें फंसे हुए है। वे नही जानते कि इतिहास आखिर मानवकी ही करतूत है। इतिहास हमको बनाता है यह कुछ अशोमें सही है। लेकिन उसी तरह यह भी सही है कि हम भी इतिहासको बनाते है। आज तो ऐतिहासिक जिम्मेवारीका ढकोसला नाहक हमारे सामने रचा जा रहा है? रूजवेल्ट कहता है, "प्रशात महासागर अमेरिकाकी बगलमे है। उसकी और उसमें बसे हुए टापुओकी जिम्मेवारी हमारी है।" जापान कह सकता है कि हमारा तो टापू ही प्रशात महासागरमें बसा हुआ है। इसलिए हमारी जिम्मेवारी विशेष है। इस तरह यह जिम्मेवारियोका व्यर्थका झगडा चलता है।

लेकिन मेरे विचारमें सबसे भयानक वस्तु यह है कि इस हत्याकाडमें आम जनताको निष्कारण दाखिल किया जाता है। जिस जनताको युद्धसे कोई मतलब नही है, उसका खून बहाया जाता है, उसके नामपर दूसरे लोगोका खून बहाया जाता है। यह सारी व्यवस्थापकोकी करतूत है। उसमे आम जनताका कोई लाभ नही है। इसलिए दुनियाभरके व्यवस्थापकोसे हम कहते है कि अब आप व्यवस्था छोड दीजिये। तभी हम सुखी होगे। हम अपने यहाके व्यवस्थापकोंसे प्रार्थना करें। अमेरिका, इगलैण्ड, जापान, जर्मनी, अपने-अपने व्यवस्थापकोसे विनती करे। न मालूम वहांके लोगोको कब सूझेगी। कम-से-कम हम तो शुरू कर दे। हम उनसे कहें कि तुमने हजार सालसे व्यवस्थाके कई प्रयोग किये। हमे कोई सुख नही हुआ। आपकी व्यवस्थामे कई उलट-फेर हुए। एकमेंसे दूसरी व्यवस्था कायम की गई। कई क्रातिया हुई, लडाइया हुई। लोगोका व्यर्थ संहार हुआ। आपने बहुत प्रयोग कर लिये, अब बस कीजिये। ज्यादा-से-ज्यादा अव्यवस्था और पीडा व्यवस्थापक वर्ग ने ही दी है। आपने काफी कोलाहल मचा दिया। अब मेहरबानी करके हट जाइयें; तो हममे ज्यादा शक्ति आयेगी, दु:ख मिट जायगा और सुख होगा।

व्यवस्थापक वर्ग कहता है, तुम्हारी व्यवस्थाके लिए हमारी जरूरत है। हम कहते है, हमारी कौन-सी जरूरते तुम पूरी करते हो? हमे भूख लगती

है। परमात्माकी दी हुई जमीन में हम खेती करते है। व्यवस्थापक वर्ग खेती नही करता। खेती के द्वारा फसल पैदा करनेकी कला परमात्माकी कृपासे और दस लाख सालके अनुभवसे प्राप्त हुई है इसलिए हमारी भूख मिटानेके लिए तुम्हारी कोई जरूरत नही है। प्यास बुझानेके लिए भी तुम्हारी जरूरत नही है। बारिश होती है, जलाशयोमे पानी भर जाता है। इस तरह हमे जमीनमेंसे अन्न और आस्मानसे पानी मिल जाता है। अब रही हवा। उसके लिए भी व्यवस्थाकी जरूरत नही। परमात्माने हर एकको एक-एक नाक दी है। दस आदमियोको मिला कर एक नाक नही दी। ऐसा तो नही होता कि एक आदमी अपनी नाकमे हवा बटोर ले और उसे दस आदमियोमे बाट दे। आपस-आपसके व्यवहारकी भी वही बात है। नीति-शास्त्रसे हमने विवाह करके कुटुम्ब-सस्था बनाना सीखा है। सतोने हमे पडोसी से प्रेम करना सिखाया है। इस प्रकार हमारी सारी जरूरते पूरी हो जाती है। राज्यव्यवस्थापकोकेलिए अब बचता ही क्या है ?

सिर्फ एक वस्तु बाकी रह जाती है। किसानकी जितनी फसल होगी, उतनी सारी वह कैसे खायगा। आस्मानके पक्षी और जमीनके चूहे कुछ हिस्सा बटा लेते है। लेकिन तो भी अन्नके ढेर लग जायगे। किसान उनका क्या करेगा ? इसलिए किसानको बोझ कम करनेकी जरूरत है। और व्यवस्थापक-वर्ग उसकी पैदावार का कुछ हिस्सा इसीलिए ले लेता है। हम कहते हैं कि किसानके बोझकी फिक्र आप न किजिये। वह कम अनाज पैदा करेगा। उसे आराम मिलेगा। उसके लिए उसे आपको टैक्स देने की जरूरत नही।

इस तरह जीवनके सभी कार्य व्यवस्थापक-वर्गके बिना ही सपन्न हो जाते हैं तब व्यवस्थापक-वर्ग कहता है, कि हम आपको तालीम देते है, आपकी रक्षा करते है। इधरका सामान उधरले जानेमें मदद करते हैं।

इन कामोके लिए भी हमे व्यवस्थापक-वर्गकी जरूरत नही है। बच्चा आस्मानसे तो नही टपकता। वह बे-मा-बापका नही होता। पैदा होतेही माके स्तनमें उसके लिए दूध पैदा होता है। इस तरह मातासे उसे रक्षण

मिलता है। माता ही उसे मातृभाषा सिखाती है। इस प्रकार उसे रक्षा और तालीम मिल जाती है। तालीमके लिए उसे तीसरेके सुपुर्द करनेका सवाल ही कहा है ? हां, बच्चा अगर बिना मां-बापके पैदा होता, तो यह सवाल कठिन हो जाता। बच्चेको मा-बापसे जो शिक्षा मिलती है, उससे अच्छी शिक्षा और कहां मिल सकती है ? आज तो शिक्षाके नाम पर ढोंग-ही-ढोंग चलता है। अच्छी तालीम किसे मिली, इसका उपनिषदोमें अच्छा वर्णन दिया है—**'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्'**। 'जिसके माता, पिता और आचार्य है, उसने उत्तम शिक्षा पाई है'। पहली दो बातें व्यवस्थापको द्वारा नही मिलती। समाजमे ज्ञानी या गुरुका होना भी राज्यव्यवस्था पर निर्भर नही है। यह कोई नही कह सकता कि फलाना राज्य था, इसलिए अमुक ज्ञानी पुरुष पैदा हुआ। अकबरका राज्य था इसलिए तुलसीदास पैदा हुए हो, ऐमी बात नही है। सच्चे ज्ञानी स्वयभू होते है। वे सृष्टिसे ज्ञान लेते है। वे शिक्षण-सस्थाओमे शिक्षा नही लेते, ईश्वरकी कृपासे ज्ञानी बनते है। खुद शिक्षण-शास्त्र ही कहते है कि सच्चे ज्ञानी शिक्षण-सस्थाओके बाहर ही होते हैं।

तो फिर राज्यपद्धति क्या करती है ? वह तालीमका एक ढाचा बना देती है। हुक्मके मुताबिक कुछ बात लडकोके दिमागमे ठूसनेकी प्रणाली बना देती है। 'टू ऑर्डर' यानी 'हुक्मके मुताबिक'—माल तैयार करने वाली पाठशालाए कायम करती है। इग्लैड, रूस, अमेरिका, जर्मनी आदि सभी देशो मे यही होता है। इस प्रकार सरकारी तालीम लोगोको बुद्धिसे गुलाम बनानेके लिए होती है। जर्मनीमे लोगोको सिखाया जाता है कि हेर हिटलरको ईश्वरका अवतार मानो। हिंदुस्तानमे सिखाया जाता है कि अग्रेजोका यहा आना जरूरी था। वे यहा अच्छी व्यवस्था कर रहे है। उत्तम कार्य कर रहे हैं। उनके आनेसे हिंदुस्तानका फायदा हुआ है। इस प्रकार अपने शिक्षा-विभागके द्वारा सरकार तालीमके कार्यमे बिगाड ही पैदा करती है। जितने नये-नये शोध और प्रयोग हुए है, सरकारके क्षेत्रके बाहर ही हुए है। पैस्टोलॉं-जी, फ्रॆबल, माटेसरी आदिके प्रयोग सरकारी महकमेके जरिये नही हुए।

तब वे अन्त मे कहते हैं कि हम तुम्हारी रक्षा करते हैं। 'किससे रक्षा करते है?' 'परकीय आक्रमणसे।' लेकिन हम पर परकीयो द्वारा आक्रमण ही क्यो होता है? परकीय आक्रमणका यह भूत व्यवस्थापकोने ही खडा किया है। अगर वे हट जाय, तो वह अपने-आप गायब हो जायगा। हम अपने यहाके रक्षकोंसे कहें कि आप हट जाइए। जापान, जर्मनी, इग्लैड और अमेरिकाके लोग अपने-अपने रक्षकोसे कहे कि आप जाइए, तो विदेशी आक्रमण के हौवे-का डर नही रहेगा। किसी देशकी आम जनता दूसरे देशकी आम जनता पर हमला थोड़े ही करने वाली है? जापानके किसान हिंदुस्तान पर हमला करने थोडे ही जायगे? आज सुनते है कि अमेरिकाके सवा दो लाख आदमी यहा आये है। वे सेनामे भर्ती कर-करके यहा लाये गये है। क्योकि अमेरिकाकी रक्षाके लिए हिदुस्तान भी एक फ्रण्ट (मोर्चा) है। आज तो सारा ससार ही 'फ्रण्ट' बन रहा है। इस फ्रण्टकी भी कोई सीमा है? ज्योतिषशास्त्रके अनुसार कभी-कभी पृथ्वी भी मगलकी कक्षामे आ जाती है। तब इन दोनो ग्रहोके टकरा जानेका डर रहता है। इस दृष्टिसे तो सारा त्रिभुवन ही हमारा मोर्चा है। इसका क्या इलाज? एक ही इलाज है कि हर एक अपनी-अपनी जगह शातिपूर्वक अपना काम करता रहे और किसीसे न डरे। अपनी कक्षासे बाहर जानेकी किसीको जरूरत ही नही है। रक्षाका यही सबसे सफल उपाय है। यह रक्षाका प्रश्न एक दुष्टचक्र है। यह हौवा व्यवस्थापकोका ही खडा किया हुआ है। इस बहाने वे अपने अस्तित्वको हम पर लादनेकी कोशिश करते है। वे कहते है, तुमको दूसरोके आक्रमणसे बचानेके लिए हमारी जरूरत है। हम कहते है व्यवस्थापकोका होना ही आक्रमणकी जड है।

हमारी रक्षा करनेके बहाने वे फौज रखते है। आक्रमण तो कभी-कभार होता है। लेकिन सेनाका उपयोग प्राय: हमको दबानेकेलिए किया जाता है। हम कहते है, 'आप हमसे अधिक बुद्धिमान है तभी तो हमारे व्यवस्थापक हुए!' अगर हम आपकी बात न माने, तो हमे समझाइए। उसके लिए लश्करकी क्या जरूरत? आप हमारे मा-बाप जैसे मार्गदर्शक हैं। अपनी बात हम पर लादनेकेलिए आप लश्करकी सहायता क्यो लेते है? बाप अपने बच्चेको

कोई बात समझाना चाहे, तो दोनोके बीचमे एक सिपाहीकी क्या जरूरत ?

शिक्षक अगर लडकोसे अधिक बुद्धिमान है, तो बुद्धिहीन लडकोंको अपनी बात समझानेकेलिए वह क्या अपने पास एक सिपाही रखेगा ? लेकिन होता तो ऐसा ही है। वह अपने पास एक निर्जीव सिपाही, एक छडी, रख लेता है। बुद्धिमान शिक्षकका उसके लडकोंसे सबध रखनेकेलिए निर्बुद्धि और निर्जीव छडी का उपयोग कैसे उपयुक्त हो सकता है ? लेकिन हर एक दर्जे (क्लास) में वह बराबर चलता है। कहा जाता है कि खाने में अगर थोडी-सी मिर्च हो तो खाना जल्दी हजम हो जाता है। उसी तरह छडीके साथ शिक्षण दिया जाय तो जल्दी गले उतरता है। बडे आश्चर्यकी बात है कि इस तरहकी दलीलें देकर शिक्षणमे छडी का और राज्यशास्त्रमें लश्करका समर्थन किया जाता है।

अगर व्यवस्थापक वर्ग बुद्धिमान है, तो समाजमे जो दूसरे दो-चार बुद्धिमान व्यक्ति होगे, उन्हे पहचाननेकी अक्ल उसमे होगी। वह उन्हें और उनके द्वारा जनताको समझानेकी कोशिश करेगा। उनकी समझमे न आवे, तो फिर समझायगा। बार-बार समझाने पर भी समझमे न आवे, तो सब्र करेगा। सब्र भी तो कोई चीज है ? लोगोकी समझमे जितना आये, उतनी ही व्यवस्था करेगा।

लेकिन हमारे व्यवस्थापक तो समझाने की कोशिश नही करते। डडोसे बाते करते है। इसीलिए उन्हे लश्करकी जरूरत जान पडती है। इससे स्पष्ट है कि इन व्यवस्थापकोकी व्यवस्था लोगोने कबूल नही की है। वे उसे जबर-दस्ती लादना चाहते है। लेकिन वह खुलकर नही कर सकते। इसलिए बहाना बताते है कि हम उन्हे दूसरोके आक्रमणसे बचानेकेलिए लश्कर रखते है।

रक्षणका यह सही उपाय नही है। सही उपाय एक ही है। वह यह कि लोग बुद्धिपूर्वक एकत्र होकर शातिपूर्वक अपना-अपना काम करें, हिल-मिलकर रहे और व्यवस्थापकोंसे कहे कि आप हट जाइए। कम-से-कम हिंदुस्तानके लिए आज ही वह समय आ गया है। हमारे व्यवस्थापकोको अब फौरन हट जाना चाहिए। हमने भी व्यवस्थाके सिद्धात अनुभवसे सीखे है। हम अपनी कर-

तूतसे उतनी व्यवस्था नही करेगे,जितनी कि व्यवस्थापकोने की है। इतना ज्ञान तो हमें है। आपकी फौज, अदालते, टैक्स, वगैरासे हमारा काम बिगडता है। इनके आभाव मे हमारा कुछ नही बिगडेगा। हमारे पास जमीन है, आस्मान है, नाक है, गला है और भगवान् है। हम अपनी व्यवस्था कर लेगे। यह साफ शब्दोमे कह देनेका मौका आज ही आया है। कम-से-कम हिदुस्तानकेलिए तो आ ही गया है। दुनियाके दूसरे राष्ट्रोके लिए भी आया है। लेकिन वे जब महसूस करेगे, तब करेगे।

सवाल उठाया जाता है कि अगर अग्रेज चले जाय, तो हिंदुस्तान जापानके हमलेका मुकाबिला नही कर सकेगा। मै कहता हू, कर सकेगा। लेकिन फिर जापानका हमला होगा ही क्यो। जापान तो इग्लैडका शिष्य बन रहा है। साम्राज्यवादका गुरु तो इग्लैड है। आज ब्रिटिश लोग कहते है कि अब हम साम्राज्यवादको नही मानते। श्रीमती रूजवेल्ट कहती है कि अब साम्राज्यवादके दिन लद चुके है। क्यो भाई, क्या इसका भी पहलेसे कोई कैलेंडर बना रखा था? क्या इग्लैण्डकी यह प्रतिज्ञा थी कि उन्नीस सौ बयालीसतक ही हम साम्राज्यवादी रहेगे, बादमे साम्राज्य छोड देगे? यह विचार आज ही क्यो सूझा? मलाया और सिगापुरमे जो अनुभव हुआ उसका यह परिणाम है। मलायामे इन लोगोने देखा कि वहा के लोग कोई मदद नही करते, जापानियोसे मिल जाते है। इतने दूर-दूरके देश सभालना मुश्किल हो जाता है। इसलिए अब ये कहने लगे है कि अब साम्राज्यवादके दिन बीत गये है।

लेकिन जापान कहता है कि यहा भी 'मुन्रो डॉक्ट्रिन' लागू करो। मुन्रो डॉक्ट्रिनके माने है लूटनेमे स्वदेशी धर्म। जापानके लिए वह एक अच्छा सहारा हो गया है। वह कहता है, कहा मलाया और कहा इगलैण्ड? जावा पर डच लोगोका राज्य नही होना चाहिए। लूटनेके लिए इतनी दूर नही जाना चाहिए। यहीतक इनका स्वदेशी धर्म पहुच पाया है।

इगलैण्डने देख लिया कि इतने दूरके देश सम्हालना मुश्किल हो जाता है। मलायाके प्रकरणसे वह डर गया है। वह कहेगा, हम डरे नही, साव-

धान हो गये है। लेकिन डर और सावधानीकी सीमा-रेखा ठहराना मुश्किल है। मलायामें जो अनुभव हुआ वही ब्रह्मदेशमे हो रहा है। हिंदुस्तानमे भी वही होनेका डर है। अब उन्हें इगलैण्डकी रक्षाकी पडी है। वे समझ गये है कि हिंदुस्तानको बचानेकी शक्ति उनमे नही है। बेचारा बेवेल तो साफ-साफ कहता है कि हिंदुस्तानका किनारा इतना बडा है कि उसकी रक्षा हम नही कर सकते। हिंदुस्तानियोंसे भी आशा नही कर सकते। क्योकि उनके साथ बडा दुर्व्यवहार किया है।

कोई साम्राज्य अनादि-अनन्त नही है। लेकिन साम्राज्यवादका यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रतिमा, अपने ही आकार और शक्लकी विरोधी शक्ति, पैदा करके मरता है। एक साम्राज्यकी सतान दूसरा साम्राज्य होता है। उसके बाद तीसरा साम्राज्य आता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद बहु-सतानशाली है। इगलैण्डके बाद अब जापान आना चाहता है। इन दोनोकी मुठभेड मे बेचारे हिंदुस्तानका खात्मा होनेका डर है।

इसलिए अब हमे अपने व्यवस्थापकोसे ही जान छुडानी चाहिए। सिगापुरमे यह साबित हो चुका है कि उनमे रक्षा करनेकी सामर्थ्य नहीं है। इतने बडे दिग्विजयी कहलाते थे। कहते थे, सिंगापुर ऐसा मजबूत गढ है कि यावच्चद्रदिवाकरौ बना रहेगा। परीक्षित भी ऐसा जबरदस्त किला नही बना सका था। वह सात दिन तक किले के अन्दर ऋषिसे ज्ञान-चर्चा करता रहा। मृत्युने उसका वहा भी पिंड नही छोडा। आप भी दुनिया की रक्षाके ठेकेदार बनकर यावच्चद्रदिवाकरौ अपना साम्राज्य कायम रखनेकी बाते करते थे। लेकिन परीक्षित की तरह आपका किला भी आठ-दस रोजमे ढह गया। आपको हटना पडा। अग्रेजोको यह अनुभव हो गया कि दस-दस हजार मीलकी दूरीसे जनताकी मददके बिना लडाई नही लड़ी जा सकती। अग्रेज कहते आये है कि हम आखिरतक लडेगे, हरगिज नही हटेगे। लेकिन हागकाग और सिगापुरमे हटना ही पडा। आखिरतक लडनेवाले थे, तो हटनेका मौका ही क्यो आया? वे कहते है कि हम आखिरतक लड़ेगे। शायद उनका यह मतलब है कि हम जब पीछे हटेंगे तभी हटेंगे, उससे पहले

नहीं हटेंगे। इसके सिवा दूसरा कोई मतलब मुझे तो नही नजर आता।

फिर कहने लगे कि रगूनसे हटते-हटते उस शहरमे ऐसी आग लगा दी कि चालीस मीलपरसे तमाशा देख सकते थे। रगून किसके बापका था ? इतनी सपत्ति तबाह हो गई। किसका नुकसान हुआ ?

क्रिप्स साहब आये। एक योजना लेकर आये। कहने लगे इसके साथ शादी कर लो। उसे हमारे पल्ले बाधकर हमें लडाईमें शामिल कराना चाहते थे। उनकी यह चाल थी कि इस तरह हिंदुस्तानका अनुमोदन मिलनेसे लडाईको नैतिक योग्यता मिल जायगी। लेकिन असली लेने-देनेकी बात उधारीकी थी। कहने लगे, लेना-देना लडाईकी धूम-धाममे नही हो सकता। व्यापारियोका एक नियम है—देते वक्त 'पहले लिख, पीछे दे, और लेते वक्त पहले ले, पीछे लिख।' इसी व्यापारी सूत्रसे क्रिप्स काम लेना चाहता था। लडाईके बाद जो कुछ देना है, दे देंगे, तबतक हम जैसे नचावे वैसे नाचो। काग्रेसको यह मजूर नही हुआ। गाधीजी फौरन ताड गये।

इसलिए गाधीजी अब लेने-देनेकी बात नही करना चाहते। वे कहते है भगवान्ने यह जमीन हमे दी है, मेहरबानी करके आप यहासे हट जाइए। तब वे वही पुराना अराजकताका सवाल उठाते है। वे तो अव्यवस्था और अराजकताका डर दिखा-दिखाकर ही सत्ता चलाते आये है। इसीके भरोसे व्यवस्थापक-वर्ग जनतापर अपना सिक्का जामाता आया है। भविष्यके बडे भयानक चित्र खीचता है। कहता है, हम चले जायगे तो हिंदुस्तानमे बडा भीषण युद्ध होगा। हमे उसका कोई डर नही है। हिदुस्तानियोको सोचना चाहिए कि अराजकतासे हमारा और क्या नुकसान होनेवाला है ? आजकी व्यवस्था ही पूरी-पूरी अव्यवस्था है। इसके मुकाबिलेमे अराजकता भी व्यवस्था ही होगी।

इसलिए व्यवस्थापक वर्गसे हमारा अनुरोध है कि आप हमारी फिक्र न कीजिए। अगर आप हट जायगे, तो आप भी बचेंगे और हम भी बचेंगे। आप इसलिए बचेंगे कि हिंदुस्तानको छोडनेसे आपकी नैतिक योग्यता बढ जायगी, साम्राज्यवाद नष्ट होगा और दुनियाका भला होगा। शायद यूरोपमें भी लडाई बद हो जायगी। और अगर न हुई, तो आप यूरोपको सम्हालिए। दूरकी चिता

न कीजिए। अपनी सारी शक्ति यूरोपमें केन्द्रित कीजिए। कृपा करके हमारा पिंड छोडिए। हम अपने यहा ज्यादा-से-ज्यादा व्यवस्था करनेकी कोशिश कर लेगे।

बापू यही कह रहे है। उनकी योजना आगे चलकर क्या आकार लेगी, सो तो मै नही जानता। लेकिन यह महान् वस्तु है। यह सारी दुनियाके लिए लागू है। केवल उसका आरभ हिंदुस्तानसे हो रहा है। दुनियामें व्यवस्थापकों का ताता-सा लग रहा है। वह जनताके गलेमे तालके समान प्राण-घातक हो रहा है। सारी दुनियाके व्यवस्थापक अगर अपनी-अपनी जगहसे हट जायं, तो दुनियामें शाति होगी और मानवताका कल्याण होगा।[1]

सर्वोदय : जून, १९४२

: १९ :

हमारी जीवन-दृष्टि

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमतीके सेक्रेटरी श्रीछगनलालजी जोशीने मुझे एक पत्रमे लिखा कि 'तुम्हारे ये जो दो श्लोक'[2] है वे मुझे बहुत पसद आये और मैंने उन्हे अपनी प्रार्थनामे शामिल किया है।' वे श्लोक मराठीमें है क्योकि उन्हें लिखते समय मुझे उनके प्रचारकी कल्पना नही थी। मैंने वे सिर्फ अपने लिए लिखे थे। इसके सिवा मुझे गुजराती या हिंदी, इतनी—कि जिसमे काव्य-रचना अथवा पद्य-रचनाको जा सके—आती ही कहा है? उन्हें

---

१ वर्धामें राष्ट्रीय युवक संघ, कांग्रेस सैनिक दल और प्रांतीय नगर संरक्षक दलके समक्ष (२५ मई, १९४२ को) दिया गया भाषण।

२. अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वें व्रतनिश्चयें॥

लिखकर बहुत दिनोतक मै स्वय उनका केवल चिंतन ही करता था। फिर उन्हें मैंने दोनो समयकी प्रार्थनामे शामिल किया। तत्पश्चात् कन्याश्रमकी एक लडकीने वे दोनो श्लोक अपनी जरूरत बतलाकर मुझसे लिये। तब वे वहा प्रार्थनामे शामिल हुए। फिर उनका सब जगह प्रचार हुआ। इस सारी प्रस्तावनाका कारण यह है कि मुझे जो कुछ कहना है उससे मै इसका संबध बतलाना चाहता हू।

ये दोनो श्लोक हमारी विचारसरणिको प्रकट करनेवाले है। हमारी विचारसरणि यह है कि सपूर्ण जीवन उपासनामय है। यह विचार नया नही है, प्राचीन ग्रथोमे भी पाया जाता है। और मुझे तो अपने विचारोको प्राचीन-का जितना आधार मिले उतना दिखानेकी आदत होनेका कारण इसे कोई नया कहे या यह कहे कि इसे प्राचीनताका आधार नही है तो मैं उस कथनको बिलकुल ही नही मान सकता। उक्त विचार मुझे पीछे ठेठ वेदोतक दिखाई देता है। उपनिषदोमे तो है ही, किंतु गीतामे वह बिलकुल स्पष्ट ही दिखाई देता है। इसीलिए तो उसे मैने "गीता मैया" कहा है। मनुष्यका इस दुनियामे अधिक-से-अधिक प्रेम और हृदयका नाता दिखानेवाले शब्दका मैने गीताके लिए उपयोग किया है।

यद्यपि जीवन समूचा ही उपासनामय है यह विचार प्राचीन ग्रथोमे होनेपर भी मध्य युगमें इसमे फर्क पड गया ऐसा जान पडता है। कारण, मध्यकालमें यह विचारसरणि हो गई थी कि कर्म बधनकारक है, इतना ही नही बल्कि मारक भी है। कर्मका जितना त्याग किया जा सके उतना करो, केवल भिक्षादिक, जो बिलकुल ही आवश्यक हो, उतना ही करो, इत्यादि बाते थी। भगवान्ने गीतामे बतलाया है कि कर्मोमें बधन जरूर है और कर्म करने है तो उनमेंसे कुछ त्यागने भी पडेगे। परन्तु उस मध्यकालमें उस विचारकी मर्यादा ध्यानमे नही रक्खी गई, कर्मके सबधमे गलत कल्पना बन गई। मध्ययुगके किसी साधारण अच्छे सतकी भावनाकी जाच की जाय तो यह पाया जायगा कि वह कपडे सीयेगा, खेती करेगा, पर उसके पीछे विचारधारा यह दिखाई देती है कि यह सब पेटके लिए करता हूं, न करू

तो दूसरो पर बोझ पड़ता है, जो पडना उचित नही है। पर यह अधिक बुरा खयाल है। वही भगवत सेवा है यह नहीं समझा जाता था। भावना सारी यह थी कि जो कुछ भजन, पूजन, जप किया जाता है वह तो हरि-सेवा है, और दिनमें किया हुआ काम केवल पेटके लिए है। नतीजा इसका यह हुआ कि दिनमे, व्यवहारमे कुछ अनुचित किया हुआ भी जायज समझा जाता है। शामको या सबेरे पूजापाठ कर लिया, तो बस काफी है। सबेरेके रामपहरमें झूठ मत बोलो, दूसरे वक्त बोलनेमे हर्ज नही, इत्यादि कल्पनाए लोगोंमें रूढ हो गईं।

भक्ति-मार्गके भागवत, तुलसी-रामायण, तुकारामगाथा, ज्ञानेश्वरी इत्यादि ग्रथ बहुत ऊँचे है। मुझपर उसका बडा असर पडता है। कभी किसी समय हृदय बिलकुल खिन्न हुआ अथवा मन उत्साहरहित हो गये—मुझे ऐसी स्थिति प्राय· बहुत कम आती है—तो उस समय तुकारामका कोई अभंग, अथवा ज्ञानेश्वरीकी चार ओविया अथवा रामायणकी चार चौपाइया पढी कि मन प्रसन्न हो जाता है। इतना उनका मुझपर असर होता है। तथापि मुझे ऐसा जान पडता है कि उन ग्रथोको पचाकर हमे समाजको नया दूध तैयार करके देना चाहिए। जैसे गाय चरी, (कडवी) खाकर दूध देती है, वैसे ही हमे गायका काम स्वीकार करके उपर्युक्त चरी—जो चरी ही की तरह पौष्टिक और मीठी है—खाकर दूध तैयार कर देना चाहिए। क्योकि वैसा न किया जायगा तो भक्तिके साथ बहुत-सी न पचनेवाली या हमे न रुचनेवाली चीजे भी आ जायगी, जो किसी तरह भी हमे सहॅगी नही। उसके लिए हमे नये ग्रथ भी लिखने होगे। मुझे जब ऐसा लगा तभी मैंने गीताई[1] की रचनाका प्रयत्न किया और तत्त्व-ज्ञानके विषयमे अभी कुछ लिखनेका विचार है। वह शायद पूरा हो, सभव न भी हो।

आचरणके बिना भक्ति झूठी है, वह व्यर्थ हो जाती है। आज हालत यह है कि ऊपर 'श्री हरि' लिखकर नीचे जमाखर्चकी बहीमे ५०) देकर १००)के

---

१ गीताका मराठी समश्लोकी अनुवाद।

कागजपर सही कराने जैसे जमाखर्च करनेमे लोगोको अटपटापन नही मालूम होता। अत. भक्तिके साथ आचरणकी आवश्यकता है।

आजके भक्त अथवा साधुके नियममे कल्पना यह है कि वह कम खानेवाला और काम भी कम ही करनेवाला होना चाहिए। साधूको ज्यादा काम करना ही नही चाहिए। कोई साधु अगर बर्तन माजने लगा तो लोग कहते है कि साधुको बर्तन माजनेसे क्या सरोकार! हमे समूचा जीवन भक्तिमय, उपासनामय करना पडेगा। हमारे ये व्रत मेरे मनसे आज तकके हिंदू-धर्मका दूध है। इसके आगेके सौ वर्षोंमे उलका मक्खन नही होगा सो नही है। होगा भी अथवा जैसे उन पुराने ग्रथोमे—विचारोमे गंदगी घुस गई है, वैसे ही इसमे भी घुस आई तो अगली पीढ़ी उसे निकालेगी भी। पर आज हमे उसकी फिक्र करनेकी जरूरत नही है। आज तो हम उन व्रतोको भक्तिपूर्वक अमलमे लावे, समूचे जीवनको उपासनामय बनावे, जो-जो व्यवहार हम करे, फिर चाहे वह बाजारका काम हो या रसोई बनानेका अथवा चक्की पीसनेका, सबको भगवत-सेवा समझकर करे तो हमारा काम खतम हुआ। यह हमारा ध्येय होना चाहिए।

: २० :

विविध विचार

१—सामूहिक प्रार्थना

व्यक्ति और समूहकी उन्नतिमे कोई भेद नही। जब तक सामूहिक उन्नति नही होती, तबतक व्यक्तिगत उन्नति भी सभव नही। जिस प्रकार एक साफ-सुथरे घरके चारो ओर प्लेग फैल जाय, तो वह साफ-सुथरा घर भी अछूता नही रह सकता उसी प्रकार वायुमण्डल दूषित होने पर कोई व्यक्ति उसे दोषसे बचा नही रह सकता। अत· प्रार्थना व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होनी चाहिए। हमारा वैदिक-धर्म भी सामूहिक प्रार्थनाके आधार पर अवलबित है। गायत्री मंत्रमे प्रार्थनाकी गई है कि हम सब सवितादेवकी

प्रार्थना करते है; वे हमारी बुद्धिको शुद्ध करे। यह सामूहिक प्रार्थना है, न कि व्यक्तिगत; क्योकि ऐसा नही है कि, मै प्रार्थना करता हू और मेरी बुद्धि शुद्ध करे।

हमारी प्रार्थना तो सामूहिक होनी ही चाहिए और उसमे स्त्रिया और बालक-बालिकाओको भी सम्मिलित होना चाहिए। प्राय. देखा जाता है कि प्रार्थनामे स्त्रिया सम्मिलित नही होती। एक गावमे मैने देखा कि प्रार्थना मे बहुत-से लोग एकत्र हुए थे; किंतु स्त्री एक भी नही थी। कारण पूछने पर मालूम हुआ कि केवल एक बाई है, जो प्रार्थनामे आना चाहती है, किंतु अकेली आना उसे पसद नही। प्रार्थनामे स्त्रियोको भी सम्मिलित होना चाहिए। लोग उन्हे शृगारकी वस्तु समझकर छोड देते है। किंतु यह मानना भूल है। सपूर्ण गावके, या किसी सस्थाके, या एक विचारके, या एक परिवारके सभी व्यक्तियोको मिलकर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थनाका स्थान भी निश्चित कर लेना चाहिए। सामूहिक प्रार्थनाका आयोजन हरिजन-सघ, हरिजन-छात्रावास या ऐसे ही अन्य सार्वजनिक स्थानो पर करना चाहिए, जिससे उसमे हरिजन तथा अन्य लोग अधिक सख्यामे सम्मिलित हो सके। प्रार्थना प्रारभ करनेके पूर्व घटा या शखकी ध्वनि हो जानी चाहिए, जिसे सुनकर आसपासके लोग प्रार्थनाके लिए समय पर एकत्र हो जाय।

हरिजन सेवकसे

२—संतोंका बाना

जगत् ही जो ठहरा, लोग चटसे कह गुजरते है, कि तलवारसे तो तलवार लेकर ही लडा जा सकता है। उसके बिना काम नही चलता। किंतु यह उनकी वाणी है, जिनके पास तलवार नहीं है। कितनी ही बार जो वस्तु हमारे पास नही होती, हम उसकी बाजार दर बढा दिया करते है। हमारी दशा भी वैसी ही है। हमारे मनमे तलवार क्यो है? इसलिए कि वह हमारे म्यानमे नही है। यदि म्यानमे तलवार होती तो मनमे उसके लिए मोह क्यों होनेवाला था?

मोह न हुआ होता, और वह इसलिए, कि सच्ची बात हमारी समझमे आ गई होती। यदि हमारे तलवार-बहादुर पूर्वज हमारे मुहसे यह सुन लेते, कि तलवारसे तलवार लेकर लडा जा सकता है, तो उनकी हसी रोके न रुकती। इसलिए कि उन्हे लडाईका अनुभव था। उन्हे मालूम था कि लडा 'ऐसे' जाता है। उन्होने हमे स्वाभाविक समझा दिया होता कि 'बाबा, तलवारसे ढाल लेकर लडा जाता है।' जिस समय लोग 'त' कहनेसे तलवार समझ जाते थे, उस समय लोगोको लडनेकी यह कला मालूम थी। अब तो हम 'त' कहनेसे 'तदुल-मट्ठा' समझते है, तब हमारे गलेमे यह बात कैसे उतरे ?

हम कहते है, जैसेको तैसा होना चाहिए। मगर हम मतलब समझा ही कहा करते है ? जैसेको तैसेका अर्थ तो इतना ही है कि जितनी पैनी हमारे दुश्मनकी तलवार हो उतनी ही सख्त हमारी ढाल हो। तब तलवारसे तलवार लेकर लडनेकी बातको, जैसेको तैसा कहे, तो यह क्या हमारी मदबुद्धिका द्योतक नही है ? तलवारसे तो ढाल ही लेकर लडा जा सकता है, पर ढालके सहन करनेकी शक्ति तलवारकी प्रहारक शक्तिसे हार खानेवाली नही होनी चाहिए। शत्रुके प्रश्नोमे यदि पाच सेर क्रोधके अगारे भरे हो, तो हमारे पास भी पाच सेरसे कम प्रेमका पानी न होना चाहिए। शिक्षक अपने बालकोके अज्ञानसे लडता है। यदि वह जैसेको तैसाका मनमाना तत्त्व-ज्ञान ग्रहण कर ले, और बच्चोसे कहने लगे कि "तुम्हारी समझमे यह जरा-सी बात नही आती, तो मेरी समझमे क्यों आनी चाहिए ? और यदि तुम मेरे प्रश्नोका उत्तर नही देते, तो मै फिर तुम्हारे प्रश्नोका उत्तर क्यो दू ? तुम अगर अज्ञानका बोझ ढो रहे हो, तो मै ही अकेला ज्ञानका बोझ क्यो ढोऊ ?" तो इसका उत्तर यही है कि बच्चे अज्ञानका बोझ ढो रहे है इसीलिए तुम्हे ज्ञानका बोझ ढोनेकी खास आवश्यकता है। अज्ञानसे ज्ञान लेकर ही लडा जा सकता है। जैसेको तैसेका अर्थ यहा केवल इतना ही है, कि तोडसे जोड मिलनी चाहिए। हमारे सामनेके आदमीका अज्ञान जितना गहरा हो हमारा ज्ञान भी उतना ही गभीर होना चाहिए। यही कारण है कि ज्ञानकी मापपर जीनेवाले

देशोमें अज्ञानी-से-अज्ञानी बालकोंकी श्रेणीको पढानेके लिए उच्च-से-उच्च ज्ञानवाले शिक्षक रक्खे जाते है। पुराण-कालके युद्धोमे भी तो एक बात सुनी जाती है। यदि एक मेघके अस्त्र फेकता था, तो दूसरा उसके बदले मेघके अस्त्र नही फेकता था, वह तो वायुके अस्त्र फेंकता था। बादलोकी चढाईमें बादल ही भेजे कि बादलोपर बादलका वर्ग हुआ और हुआ गहरा अधकार। और वायु भेजी कि एक-एक करके बादल तितर-बितर। अज्ञानके मस्तकपर अज्ञानके ही कीले ठोकनेसे फायदा ? अज्ञानको तो ज्ञानसे दूर करना चाहिए।

जिसे व्यवहारकी थोडी-सी भी जानकारी है, उसे इसबातके समझनेमें कुछ भी अडचन नही पडनी चाहिए। अगारे बुझाने हों तो पानी डालना चाहिए। अधेरा हटाना हो तो दिया जलाना चाहिए। यह वैध विरोध किसकी समझमे नही आता ? और यदि ये बाते समझमें आती है, तो सतोंकी यह वाणी क्यो समझमे नही आती, कि क्रोधको प्रेमसे जीतना चाहिए; बुराईको भलाईसे जीतना चाहिए; कजूसपनेको दरियादिलीसे जीतना चाहिए; खोटेको खरेपनसे जीतना चाहिए ? ये सब भी व्यवहारकी बाते है। हमारी समझमे तो तब आवे, जब हम विचार करे। हम अपने ही मनमे अगर खोज करे, तो हमे सब बातोका पता चल जाय।

ह० से०, २ जून १९३४

३—निष्ठाकी कमी

गाधी-युगके साहित्यकी हलचलमे अनेक गुण है; पर एक दोष भी है। जितने उत्साहसे, प्रेमसे, निष्ठासे मध्य युगमे सत प्रचार करते थे, मुझे बही दीखता, कि हम उसी निष्ठासे विचार-प्रचारका कार्य कर रहे है। जबर-दस्तीसे, रिश्वतसे, अहकारसे, उत्साहके अतिरेकसे और जल्दबाजीसे मिशनरीकी तरह एकांगी, अधवृत्तिकी तरह आप विचार-प्रचारका कार्य करे, ऐसी बात मैनही कहता। वह बुरी है, परतु निष्ठावत सत, गाव-गावमें जाकर हरि-नाम ध्वनिकी गूज मचा देते थे, वह हम नही करते। वैसा निष्ठावत प्रचार वर्त्तमान हलचलमे नही है। ये बातें मुझपर भी लागू होती

है। सतोंका-सा उत्साह आज चाहिए। आजकी हलचलमे योग्यताकी कमी नही। उद्धारका जो कार्य सतोने किया उसी कार्यको आगे खीचा जा रहा है। परतु सतोंमे जो निष्ठा थी वह असीम थी—वह उनमे समाती न थी—वह फूटकर बाहर फैलती थी। उस तीव्रताकी, उस वेगकी निष्ठा आज नही मिलती। पानी कही-न-कही रुक गया है। बरसता है, पर बह नही रहा—वह फैलता नही, जलाशय नही बनाता, प्रवाहित नही होता, खेती हरी-भरी नही होती।

नारद तीनो लोकमें फिरता। वह नीचे दरजेके लोगोमे घूमता, मध्यम श्रेणीके लोगोके बीच जाता, उच्च श्रेणीके लोगो तक पहुचता, यही तो लोक-समुदाय है। एक मित्रने मुझसे कहा कि आजके समाचार-पत्र नारद हुए। परतु ये नारद, नारद न हुए के बराबर है। इसमे पैसे देनेकी व्याधि है, समझ लेनेकी उपाधि है। परतु देवर्षि घर-घर अपने आप जाता, मधुर वाणीमे अपने विचार लोगोके गले उतारता और फिर उन्हीका आभार मानता। जो विचार सुनते, उन्हीका वह उपकार मानता। नारदको मालूम होता कि उसे आज भगवद्दर्शन हुए। आज देवर्षिका वही काम ठीक-ठीक नही हो रहा है। हो कैसे, हमारे हृदयमे वह प्रतिबिबित ही नही। खादी, अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रीय विचार, सबके प्रचारके लिए व्यक्ति चाहिए, किंतु इन विचारोका तत्त्वज्ञान ही हमारे पास काफी नही—हमारी जानकारी भी पूरी नही। जानकारी न होना अज्ञान है, किंतु जानकारीकी प्राप्तिमे लापरवाह रहना दोष है। बापूने अभी एक छोटा-सा लेख लिखा था। उस लेखका आशय था कि हिटलर भी जर्मनीमे यत्रोके महत्त्वको कम कर रहा है और मध्य युगके समान ही वर्तमान युगमे वह घरू उद्योग-धधोको प्रोत्साहन दे रहा है। मैंने एक भले कार्यकर्त्तासे पूछा "आपने वह लेख पढा है?" उन्होने उत्तर दिया, "नही"। कितनी ही बार ज्ञानको सम्मुख पाकर हम कह देते है "नया क्या होगा!" यह कल्पना ही घातक है। महाभारतके 'वन-पर्वमे' एक ऋषि धर्मराजके पास आये। धर्मराज वनमे दुःख भोगते थे। धर्म, दुःखकी घड़ियोकी उस कहानीको पाते रहते, किंतु करुणामय ऋषिको

पाकर धर्मका दु ख वाणीके द्वारसे बह निकलता। वह कहते—"ऐसे दुःख किसीने न भोगे होगे।" ऋषि कहते "राम और सीताको भी ऐसा ही वनवास भोगना पडा था।" धर्म कहते, "जरा वह रामकी कथा तो कहिए।" यदि इन बातोपरसे कोई कहे कि धर्मको रामकी कथा मालूम न थी, तो उस व्यक्तिकी इसे अज्ञान-सीमा ही समझनी चाहिए। धर्मको दीखता कि ऋषिके मुखसे पुन रामकी उज्ज्वल कथा सुननी चाहिए। पानी वही है, परतु जो 'गोमुख'मे आया, कि अधिक पवित्र हुआ।

ह० से०, ३० मार्च १९३४

४—सेवकका पाथेय

वर्धाका ग्राम-सेवा-मडल, वर्धा तहसीलमे ग्राम-सेवाके कार्यका छोटे पैमाने पर एक व्यवस्थित प्रयोग कर रहा है। इस सस्थाकी ओरसे वर्धा तहसीलके १२ गावोमे काम हो रहा है। इस वर्षकी अपनी वार्षिक बैठकमे उसने काफी वादविवादके बाद नीचे लिखा एक प्रस्ताव स्वीकार किया—

"ग्राम-सेवा-मडलकी ओरसे देहातमे काम करनेवाला प्रत्येक मनुष्य (१) प्रतिदिन कम-से-कम आठ घटे शारीरिक श्रम करनेवाला और प्रतिदिन चार आनेमे अपना जीवन-निर्वाह करनेकी तैयारी रखनेवाला होना चाहिए, और (२) किसी भी परिस्थितिमे, कहीसे भी सपरिवार पूरा काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके आठ आना प्रतिदिनसे अधिककी अपेक्षा न रखनेवाला होना चाहिए।

"१ नवबर, १९३५ से एक वर्षतक जो ग्राम-सेवक चर्खासघके भावसे सूत कातकर जितनी मजदूरी कमायेगा उतनी ही अतिरिक्त मदद और लेनेका उसे अधिकार रहेगा।"

मुझसे यह कहा गया है कि इस प्रस्तावपर मै अपना भाष्य लिखू। प्रस्तावका स्वरूप इतना क्रातिकारक है कि लोगोके लिए उसके भाष्यकी अपेक्षा रखना स्वाभाविक है। इसका भाष्य यदि हुआ, तो वास्तविक व्यवहार द्वारा होगा, शब्दो द्वारा नही। तथापि साहित्यके ऋणसे उऋण होना भी आवश्यक है, अत. नीचे थोडेमे कुछ लिखता हू।

प्रस्तावके पूर्वार्द्धमे शारीरिक श्रम और ऐच्छिक गरीबीका तत्त्व स्वीकारा गया है। एक-न-एक कारण खडा करके अबतक हम शारीरिक श्रमसे बचनेका प्रयत्न करते रहे है। ससारमे फैली हुई विषमता, ऊच-नीचके विचार, गुलामी और हिंसा, ये सब विशेषकर उस आर्थिक पापके परिणाम है, जो शारीरिक श्रमसे बचनेके प्रयत्नमे हम अबतक करते आये है। बच्चे और बूढ़े शारीरिक श्रम न करे, विद्यार्थी और अध्यापक शारीरिक श्रम न करे, जो रोगी और असमर्थ है वे तो कदापि न करे, निरुद्योगी और उच्चाद्योगी भी न करे, सन्यासी और देशभक्त भी न करे, विचारक, प्रचारक और व्यवस्थापक भी शारीरिक श्रम न करे, तो आखिर करे कौन ! वे,जो अज्ञानी है और पीडित है ? प्रस्तावके पूर्वार्द्धमें इसी वस्तुका परिचय कराते हुए यह कहा गया है कि जबतक हम इस भयकर स्थितिसे अपना पिड न छुडा लेगे, तबतक दूसरी कोई भी स्थापना, सिद्धात, वाद, व्यवस्था, और रचनासे हमारा निस्तार न होगा। मनुके शब्दोमे यह अर्थ-शुचित्वका एक प्रयत्न है।

प्रस्तावके उत्तरार्द्धको 'काम-शुचित्वका प्रयत्न' कहा जा सकता है। स्त्रियोको अपनी भोग्य सामग्री समझकर एक ओर उनसे अपनी पूरी व्यक्तिगत सेवा करवाना और दूसरी ओर उन्हे अपना भार समझकर उस भारको समाज-सेवापर लादना, एक ऐसी वृत्ति है, जिसमे सेवाका केवल नाम-मात्र रह जाता है। इसके कारण स्त्रियोंकी अद्भुत शक्तिको कोई अवकाश नही मिलता और समाज-सेवाका कार्य एकागी और महगा होता जाता है। यदि कुटुब अथवा परिवारकी व्याख्यामें कुटुबको समाज-सेवाके लिए सगठित एक सहज, स्वयभू पूर्ण एव सहायक मडल मान लिया जाय, तो कुटुब समाजके लिए भाररूप न रह जाय; उलटे समाजका उपकारक बन जाय।

अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्व दोनो सेवा-धर्मके सच्चे साधन है और साध्य भी यही है।

जो लोग इस गरीब और पीडित देशकी सेवा उत्कट लगनके साथ करना चाहते है, वे यदि इस मर्मको समझ ले कि अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्वके

बिना वास्तविक सेवा हो ही नही सकती, तो मुझे आशा है कि दोनो तत्त्वोकी सिद्धिके लिए—फिर ये कितने ही कठिन क्यो न प्रतीत हो—प्रयत्न करनेमे अपनी ओरसे बात उठा न रक्खेगे।

प्रस्तावका अतिम भाग उन सेवकोकी अतिरिक्त सहायताके लिए है, जो आमसेवाके क्षेत्रमे प्रवेश किया चाहते है या नये-नये प्रविष्ट हुए है। महाराष्ट्र-चर्खा-सघने प्रेमपूर्वक, साहसपूर्वक और संकोचपूर्वक कुछ ऐसी व्यवस्थाकी है कि जिससे कातनेवालोको बढी हुई मजदूरीके रूपमे ९ घटे काम करनेपर ३ आने मिलेगे। यह मजदूरी पर्याप्त तो नही है। अपने पिछले ४॥ महीनोकी कताईके लगातार अनुभव परसे मै कह सकता हू कि इस बढी हुई दरके अनुसार भी ९ घटेमे ३ आने कमाना साधारणत कठिन ही होगा। अपने इस कथनकी पुष्टिके विवरणमे मै यहा नही उतरूगा, यद्यपि विवरण मेरे पास तैयार है। किंतु इस स्थितिमे भी सेवकोको तो उसी तरहका जीवन बिताना चाहिए, जिस तरहका जीवन देशकी गरीब और अनाथ स्त्रिया आज बिता रही है। तथापि जबतक सेवाकार्यका रहस्य अपने-आप स्वय स्फूर्तिसे प्रकट न होने लगे, तबतक सेवाके सशोधन और चितनके लिए प्राथमिक अवस्थामे सेवकको सेवा-कार्यके अतिरिक्त थोडी फुरसत मिलनी चाहिए। इस अतिरिक्त सहायताका यही हेतु है। आगे तो जब सेवक स्वय चितनमे मग्न रहने लगेगा, तो सत तुकारामके शब्दोमे वह भी यह गुनगुनाने लगेगा कि "चिंतनासो न लगे वेल। सर्वकालकरावें।"

ह० से०, २१ दिसम्बर १९३५

५—तकलीकी उपासना

स्नान और प्रार्थनाके पश्चात् तकली-उपासना। रोज आध घटे मौन धारण करके तकली चलानी चाहिए। कल तकली कातते हुए पूछा गया कि यहा कितने लोग तकली चलाते है? उत्तर मिला—दो सौ। मुझे आकडे नही चाहिए थे। मैने तो सहज ही पूछा था। यह तो गगोत्रीका प्रवाह है। प्रारभमे अत्यन्त छोटा दीखता है पर आगे इतना प्रचड हो जाता है कि

माप-जोखकी सुविधा ही नही रह जाती। उसमे केवल डुबकी ही लगानी होती है। तकली बिलकुल छोटी दीखती है, परतु उसकी शक्ति अनत है। वह चाहे जहा पहुच सकती है। घरमे वह और हाथमे भी वह, माता-जैसी ही कहो न ! तुम कैसे ही उसे रक्खो, वह कभी कोई शिकायत नही करने की ? गुम हो जाय तो उसके गुमनेकी शिकायत नहीं। यदि हम उसकी परवाह करें तो उसमे इतनी शक्ति है जितनी और किसी यत्रमे नही। तकली हमारी हलचलका, हमारे आदोलनका राम नाम है। कहते है कि मोक्ष वेदो पर खडा है। तब जिनकी पहुच वेदोतक नही है वे मोक्ष तक क्यो पहुचने लगे ? उस समय सतोने राम-नामका प्रचार किया। दो अक्षरोका शब्द, पर उसमे कैसी शक्ति ! घर-घर नामका प्रचार हुआ और भक्ति-भावकी बाढ आने लगी। हनुमानकी एक बात कहते है। वह कूदकर लकापर चढ गए, पर देखा तो उतरनेके लिए जगह नही ! रातभर हवामे भटकते रहे। सारी लका राक्षसोकी। वह जगह कहा मिलनेको थी ? इतनेमे भटकते-भटकते एक मकानमेसे राम नामका स्वर सुन पडा। सुनते ही कितना आनद हुआ हनुमानको। ताली बजाकर नाच उठे और पुकार उठे—'मिल गई, मिल गई, मेरे अधिकारकी जगह।' यही जगह मिली, इसीलिए हनुमान आगेका पराक्रम दिखा सके, नही तो सारी छलागे व्यर्थ जा रही थी।

तकली, देश-सेवाके पथिकको ऐसी ही अधिकारकी जगह है। जिस घरमे वह दीख पडे वहा नि शक प्रवेश कर जाओ और चना-चबेनामे साथ हो जाओ। वहा प्रवेश किया कि तुम्हे दीख पडेगा कि तुम चक्कर काटकर अपने ही घरमे आ गए। सख्या चाहे जितनी छोटी हो किंतु यदि उसका गुणक बडा हुआ तो गुणाकार बडा हो ही जाता है। तकली छोटी-सी है किंतु वह करोडोके गुणक बननेके लिए सुलभ है। यह उसका सामर्थ्य है।

आज तो तकलीके पीछे एक मत्रभी बन गया है। मत्रके मानी साहित्यकी बकझक नही है। मत्रके मानी है तपश्चर्याके पेटमे निवास करनेवाली मूल वस्तु। तकलीके लिए अनेकोने खूब तपश्चर्या की। बेलगाव जेलमे काका (कालेलकर) साहेबने तकलीके लिए ग्यारह उपवास किये। यरवदा जेलमे

कोमलवयके दांडेकरने बाईस उपवास किए। मेरे भाईने पेटका आपरेशन होनेपर भी पडे-पडे तकलीपर १६० तारोंकी एक लट्टी कातनेका नियम टूटने नही दिया। बापूका बाया हाथ प्राय निरुपयोगी हो गया है तब भी तरुण विद्यार्थीको लज्जित करनेवाले उत्साहसे वे अपने बाये हाथसे यह प्रयत्न करते रहते है कि आधे घटेमे तकलीकी एक अमुक गति होनी चाहिए।

मनुष्य प्राणीको अर्द्धहत्याकी आदत लग गई है। जानवरोको मारना प्रारभ करके हमने आधी सृष्टि मार डाली, अस्पृश्यादि जातिया निर्माण करके आधी मनुष्य जाति मार डाली, स्त्रियोको पुरुषोसे अलग करके कुटुबोंको आधा निरुपयोगी कर दिया और बाए और दाएका भेद करके हमने अपना आधा अग मार डाला। अर्जुनको यह बात सहन नही हुई थी। उसका प्रण था कि यदि मुझे दोनो हाथोसे धनुष चलाना न आया तो मै धनुर्धारी कैसा? गीतामे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि "निमित्त मात्र" हो। परतु उसके साथ 'सव्यसाचिन्' का विशेषण लगाया है। निमित्त मात्र हीके मानी है कि दोनो हाथोसे काम करे। प्रभुके हाथका शस्त्र बन रहना साधारण बात नही है। जो अपनी सपूर्ण शक्तिका उपयोग करेगा वही प्रभुके हाथका शस्त्र बन सकेगा। वह मुरली,अपना अहभाव ही भूल गई। जली, बदनके आरपार छेद हो गए, उसी दिन प्रभुका चुबन नसीब हुआ। सौ फीसदी काम करनेका व्रत लेनेवाले ही सच्चे निरहकारी है। कम काम करके प्रभुकी सहायता मागनेवाले अब अहकारी है।

ह० से०, ११ मई १९३५

६—तिल-गुड़ लो, मीठा बोलो

गत वर्ष ता० २५ दिसबरको, अर्थात् महात्मा ईसाकी पुण्यतिथिको, मै यहा आकर प्रस्थापित हुआ। मेरे मन इस वर्ष भरमे मै कुछ भी नही कर पाया। हमने हजारो वर्षोतक हरिजनोपर जो जुल्म किए है, वे यदि तराजूके एक पलडेपर रक्खे जावे, और दूसरे पलडेपर हमारी सेवा रक्खी जाय, तो वह 'शून्य' के बराबर ही रहेगी।

हम स्वय कायर, शूद्र, असमर्थ और अत्याचारी है। हमे तो अभी अपना कार्य प्रारभ करना है। इसीलिए आज सक्रातिका त्यौहार मनाया जा रहा है। "तिल-गुड लो और मीठा बोलो।" मीठा बोलना कम-से-कम है, जो मनुष्य कर सकता है। कुछ न दे, परतु मीठा तो प्रत्येकको बोलना ही चाहिए। मैने भी मीठा बोलनेके सिवा वर्षभर कुछ नही किया। मुझसे पहलेसे, लगभग ५० वर्षसे, महात्माजीने हमे क्या सिखाया ? हमे मीठा बोलना सिखाया। 'हरिजन' के मीठे नामका शोध लगानेसे ही, उन्होने अपने मीठी वाणीका प्रारभ किया। मेरी यह श्रद्धा है कि मत्रसे साप उतर जाता है। 'हरिजन' शब्दमे गुथे हुए मत्रने परिस्थितिमे कितना अतर पैदा कर दिया! सब प्रातोसे पिछडा हुआ मद्रास, जहा अछुत को २८ फीट दूर खडा किया जाता है, और जहा उसकी छाया से भी छूत मानी जाती है, वहा भी इस महामत्रकी मिठासका प्रभाव दीख पडता है।

जिस देशके पुरुष इतने पीछे हो, वहाकी स्त्रिया कितनी पिछडी होगी ? परतु जब गुरुवायूरके मदिरके द्वार अछूतोको लिए खुले रहनेके विषयमे मत लिये गए, तब १००० स्त्रियोने मत दिया कि वह मदिर हरिजनोके लिए खोल दिया जाय। यही तो मत्रका प्रभाव है।

जब हम हृदयसे मीठा बोलना सीखने लगते है, तब हमारा व्यवहार भी मीठा होने लगता है। इसी तरह मैने अभी कुछ भी नही किया, मेरी सेवाका अभी श्रीगणेश भी नही हुआ, तो भी मै तुम्हे यह विश्वास दिलाता हू कि मेरा तुमपर प्रेम है। मैने भेद-भाव नही रक्खा। मेरी मा, यद्यपि पुराने जमानेकी थी, परतु उन्हे अस्पृश्यता रुचती न थी। मेरा जन्म असल ब्राह्मण-परिवारमे हुआ है। आज ब्राह्मण होना पापरूप हो गया है। तो भी मुझे शर्म नही मालूम होती। राम तो सब ओर रम रहा है। भेद-भावका अभाव, यह मेरी कमाई नही है। यह तो मा 'गीता'का प्रसाद है। आज भी मुझे, 'काली कमली ओढे और लगोटी लगाये हुए, ईटपर, महारूपमे खडा हुआ 'नारायण' दीख पडता है। यही क्यो, जब गावके छोटे-छोटे हरिजन बालक, मेरी कुटियाके पास आकर ऊधम करते है, गडबड मचाते है, तब मुझे ऐसा मालूम होता है,

कि स्वय भगवान् विट्ठल आकर मेरे साथ छेड-छाड कर रहा है। उन बालक-बालिकाओमें मुझे प्रत्यक्ष नारायण दीख पडता है। में तुम्हें यह कैसे बताऊ, कि तुम मुझे कितने प्यारे हो।

ह० से०, फरवरी १९३५

७—हमारी मूर्ति-पूजा

जो सब ओरसे तुच्छ माना जाता है, जिसके न स्थान होता है न सम्मान, जिसकी अवहेलना, जिसका तिरस्कार दुनिया करती है उसे भगवान् अपने हाथो लेता है। उसे वानर चाहिए, ग्वाले चाहिए, निरभिमानी मावले चाहिए। परन्तु अब आप मावले नही रहे। हम बडे है, महाशय है। ईश्वरको यह नही चाहिए। जिन्हें गालिया मिल रही है, जो परित्यक्त है, ऐसे चुने हुए लोगोको लेकर भगवान् अपना काम कर लेगा। यदि हम चाहते हो, कि प्रभुका कार्य हमारे हाथो हो, तो—

करि मस्तक ठंगणा। लागे संतांचा चरणा॥

यानी, "मस्तक नीचा करो, इतना नीचा कि वह सतोके चरणो पर जा लगे।" यह हमे सीख लेना चाहिए। जो वर्षा हो रही है, उसे रोकने के बजाय उसका उपयोग करना चाहिए।

कई बार मेरे मनमे आया है कि मैं गावोमे घूमता फिरू। जेलसे छूटते समय भी यही विचार था। परतु आज तो परिस्थिति ही भिन्न है। मुझे उसका भी दुख नही। जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमे मेरे आनदका निवास होता है। मेरे पैरोको गति कब मिलेगी, कह नही सकता। एक बार गति मिली कि वह ठहरेगी, ऐसा भी नही दीखता।

गावोमे हमारे व्यक्ति घूमते रहने ही चाहिए। अस्पृश्यता धार्मिक हलचल है। वह कोने-कोनेमे पहुचनी चाहिए। गाधीजी देशभरमें घूम लिये—इतना ही काफी नही। हजारो उस कामको अपने कधोपर ले लें। व्याख्यान नही, आहुति दीजिए।

गावोंकी जनता महादेव है—वह स्वयंभू महादेव है। वह गावोंहीमे

रहेगा यदि तुम इस महादेवके पूजक हो तो तुम्हे उसके पास जाना चाहिए। बीस-बीस गाव ले लिए और लगातार घूमने की धूम मचा दी। भक्तसे जब भगवान् लक्ष्मीनारायणके मदिरकी एक हजार प्रदक्षिणा करनेके लिए कहा जाता है तब उसमे भक्तको कुछ अनुचित नही मालूम होता। तो फिर जनता रूप महादेवके पूजनमे भी भक्तका वह उत्साह क्यो न होना चाहिए ? देवता की एक प्रदक्षिणा करके भक्त एक बार देवताका दर्शन करता है और फिर दूसरी बार प्रदक्षिणाके लिए चल देता है। फिर दर्शन, फिर प्रदक्षिणा, यही उसका क्रम होता है। जनसेवकोको भी चौदह दिनोमे चौदह गावघूमने चाहिए। पद्रहवें दिन प्रधान केन्द्रमे अपनी जानकारी देनी चाहिए। और फिर दक्ष होकर प्रदक्षिणापथमे लगना चाहिए। भक्त जब प्रत्येक परिक्रमा मे प्रभु-मूर्ति की ओर देखता है, तब उसके हृदय पर मूर्ति खिचती जाती है, हृदयपर जमती जाती है, उसका 'स्वरूप' ध्यानमे आता जाता है। स्वरूप ध्यानमे आते ही यह समझमे आता है, कि इस देवताकी भक्तिका पथ क्या है, पूजाकी सामग्री क्या है। उस समय यदि मै भक्त होऊ तो देवतासे एक रूप हो जाता हू। मेरा हृदय देवताके हृदयसे मिल जाता है। तभी देवताकी कृपा होती है; उसका अनुग्रह होता है।

लोक-सेवा हमारी मूर्ति-पूजा है। ५-२५ गावोका सग्रह हमारा महा-मन्दिर है। गावोमे क्या-क्या है, उसकी हम फेहरिस्त बना ले, मनपर भी, कागजपर भी। फेहरिस्त हम जन-सेवकोको दे दे, वे देवताका स्वरूप समझ ले। जान ले, वह दिगबर हो गया है, धूल लिपट रही है, सिरसे पानी बहता है, केवल बैल ही उसके पास सपत्ति रह गई है और जगलका निवास। जनसेवक जान ले कि देवताका स्वरूप क्या है, चेहरा कैसा है, भाव कौन-मे है, उसकी रुचि और अरुचि की वस्तुए क्या है और उसका नैवेद्य क्या हो गया है और उसपर कौनसे पुष्प चढते है। परिचय हुए बिना पूजा न बनेगी। ऐसा न करनेपर शिवपर तुलसी होगी, विष्णुपर बेल-पत्र ! देवपूजामे जल्दबाजी नही चलती। तुम्हे शीघ्रता हो, पर देवताको जल्दी नही पडी। वह शांतिका अवतार है। उसपर इकट्ठा घडा उडेलनेसे काम नही चलेगा,

उसे तो बिन्दु-बिन्दुकी चाह है। एकदम उडेलनेकी अपेक्षा वह तो सतत धारा जारी रखनेसे ही प्रसन्न होता है।

ह० से०, ६ अप्रैल १९३४

८—मृत्युरूपी वरदान

सचमुच मृत्यु ईश्वरकी ही देन है। जब हमारे निकटतम नातेदार, मित्र, कोई भी हमे दु खोसे नही बचा पाते, तब वही छुटकारा देती है। मृत्युमे जो दु ख माना जाता है, वह वास्तवमे जीवनका दु ख है। रोगादिकसे होनेवाला दु ख मृत्युका नही जीवनके असयमका फल है। मृत्यु तो उनसे हमे छुटकारा दिखलानेवाली है। मृत्युका उनसे सबंध नही है।

अत मृत्युके सिर व्यर्थ मढे जानेवाले इस शारीरिक दु खको बाद दे दिया जाय तो और दो दु ख बाकी बच जाते है। एक पूर्व-पापोकी स्मृतिसे होनेवाला दूसरा निकटस्थ जनोके विछोहकी आसक्तिसे होनेवाला। पहलेके लिए मृत्यु कैसे जवाबदेह है ? वह जीवनके पापोका फल है। दूसरा मोहका है। यदि हमारा प्रेम सच्चा हो और सेवाकी तडपन हो, तो देह त्यागनेसे हम मित्रोसे दूर नही जानेके, बल्कि निकट पहुचेगे—ठेठ उनके भीतर प्रवेश पायेगे। देहका परदा मौजूद रहते, किसी तरह भी हम इतने अन्दर नही जा सकते थे। कितनी ही गहरी सेवा हो वह ऊपरी ही होती है। देहका परदा दूर हो जानेसे अब हम दूसरेकी अतरात्मामे घुलमिलकर उसकी सेवा कर सकते है। पर सेवा करनी हो तबकी यह बात है। अर्थात् इसके लिए निष्कामता चाहिए।

और एक दु ख बाकी बच जाता है।पर वह मृत्युका नही हमारे अज्ञानका है। मृत्युके बाद क्या होगा कौन जाने ? हमारे मनकी सद्भावनाके विरुद्ध मृत्युके बाद कुछ होनेवाला नही है और कुवासना ही हो, तो जो कुछ बुरा होगा, यह उस कुवासनाका ही फल होगा—यदि ऐसी श्रद्धा, ईश्वरकी न्यायबुद्धिपर, हो तो वह काल्पनिक भय टल जायगा।

सारांश कुल दुःख चार है—

(१) शरीर-वेदनात्मक, (२) पापस्मरणात्मक, (३) सुहृन्मोहात्मक, (४) भावी चिंतात्मक, और उनके चार ही उपाय है क्रमानुसार—

(१) नित्यसयम, (२) धर्माचरण, (३) निष्कामता, (४) ईश्वरमे श्रद्धा ।

मृत्युका निरन्तर स्मरण रखना, बुद्धिमे मरण-मीमासा द्वारा निःशकता लाना और रोज रातको सोनेसे पहले मरणाभ्यास करना, यह तिहेरी साधना करते रहना चाहिए। पहला गीताके १३ वे अध्यायमें ज्ञान-लक्षणमें वर्णित है। उसपर ज्ञानदेवकी व्याख्या सुस्पष्ट है। दूसरा दूसरे अध्यायके शुरू में ही है। तीसरा आठवे अध्यायमे है।

सर्वोदय : १९४१

९—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

मनुष्यजीवन अनुभवका शास्त्र है। उस अनुभवकी बदौलत मनुष्य-समाजका काफी विकास हुआ है। किंतु हिंदु-धर्ममे उस अनुभवका शास्त्र रचकर एक विशिष्ट साधना जारी की, जिसे ब्रह्मचर्य कहते है। अन्य धर्मोंमे भी सयम तो है ही, पर उसे शास्त्रीय रूप देकर हिंदू-धर्मने जिस प्रकार उसके लिए शब्द बनाया वैसा शब्द अन्यत्र नही पाया जाता। छोटा रहते वृक्षको अच्छी-से-अच्छी खादकी जरूरत होती है। यो तो पोषण जन्म भर चाहिए, पर कम-से-कम बचपनमे तो वह सबको मिलना ही चाहिए। इस दृष्टिसे हिंदू-धर्मने ब्रह्मचर्य-आश्रमको खडा किया। पर आज मै उस आश्रमके सबधमे नही, ब्रह्मचर्य-वस्तुके सबधमे कहनेवाला हू। अपने अनुभवसे मेरा यह मत स्थिर हुआ है कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है तो ब्रह्मचर्यकी कल्पना अभावात्मक (Negative) नही होनी चाहिए। विषय सेवन मत करो, कहना अभावात्मक आज्ञा है, इससे काम नही बनता। सब इन्द्रियोकी शक्तिको आत्मामे खर्च करो, ऐसी भावात्मक (Positive) आज्ञाकी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्यके सबधमे, यह मत

करो, इतना कहकर काम नही बनता । यह करो, कहना चाहिए । ब्रह्म अर्थात् कोई भी बृहत् कल्पना । कोई मनुष्य अपने बच्चेकी सेवा उसे परमात्म-स्वरूप समझकर करता है, और यह इच्छा रखता है कि उसका लडका सत्पुरुष निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता है। उस बच्चेके निमित्तसे उसका ब्रह्मचर्य पालन आसान होगा । माता बच्चेके लिए रात-दिन कष्ट सहती है फिर भी अनुभव करती है कि उसने बच्चेके लिए कुछ न किया । कारण, बच्चेपर उसका जो प्रेम है उसकी तुलनामें वह जो कष्ट उठाती है वह उसे बहुत अल्प मालूम होता है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्य का जीवन तपसे—सयमसे—ओत-प्रोत रहता है । पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पनाके हिसाबसे सारा सयम उसे अल्प ही जान पड़ता है । इद्रिय-निग्रह मै करता हू ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इद्रिय-निग्रह किया जाता है । हिदुस्तानकी दीन जनताकी सेवाको ध्येय बनानेवालेके लिए वह सेवा उसका ब्रह्म है । उसके लिए वह जो करेगा वह ब्रह्मचर्य है । सक्षेपमे कहना हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालनेवालेकी आखोके सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है। ब्रह्मचर्यको मै विशाल ध्येयवाद और तदर्थ सयमाचरण कहता हू । यह ब्रह्मचर्यके सबधमे मैंने मुख्य वस्तु बतलाई । दूसरी एक बात कहनेको बच जाती है, वह यह कि जीवनकी छोटी-छोटी बातोमे भी नियमनकी आवश्यकता होती है। खाना, पीना, बोलना, बैठना, सोना इत्यादि सब विषयोमे नियमन चाहिए । मनचाही चाल चले और इन्द्रिय-निग्रह साधे यह आशा व्यर्थ है । घड़ेमें तनिकसा छेद हो तो भी वह बेकार हो जाता है । उसी प्रचार जीवनमें छिद्र नही होना चाहिए ।

ग्राम-सेवा-वृत्त ४-८

१०—सूत्र-मनन और पुराण-श्रवण

कागज नपा हुआ मिलता है । एक ही ओर लिखना रहता है, छपे हुए हाशियेसे बाहर जाना नही है । हर कागजका सिरा—तिहाईसे भी

ज्यादा—जेलकी मुहर ले लेती है। इतनी मर्यादामे रहकर पूरे समाचार लिखनेकी दो युक्तिया है—(१) सूक्ष्माक्षर और (२) स्वल्पाक्षर। पहलीके लिए तेज नजर और कजूस दिल चाहिए। यहा दोनोका अभाव है। तब बाकी रही दूसरी युक्ति, उससे खूब काम लिया जा सकता है। स्वल्पतम कहिए कम-से-कम, अर्थात् शून्याक्षरोमेसे अनत अर्थ दिया जा सकत है। मै यह सदा ही करता हू। पर बहुतोके लक्ष्यमे यह नही आता। वे कहते है कि मै कुछ भी लिखता-लिखाता नही हू। मै कहता हू कि मै अनन्त लिखता हू, शिकायत करनेवाले लोग समझते कैसे नही है?

स्वल्पमतको जाने दीजिए। पर स्वल्पाक्षरोमे अपार अर्थ भरनेके कुछ उदाहरण साहित्यमे है। इनमे भगवद्गीता सर्वपरिचित उदाहरण है। गीतामे भी बहुत विस्तार ऐसा है कि जो सक्षिप्त हो सकता है पर गीता तो गीता ही जो ठहरी। गीतमे गानेवालेके पसदके अलावा और ठेका बार-बार आना ही ठहरा। लेकिन योग सूत्रोका उदाहरण इस सबधमे आदर्श कहा जा सकता है। कुल १९५ सूत्रोमे चित्त-वृत्ति-निरोधका सपूर्ण शास्त्र कह डाला गया है। इतने अल्पाक्षरोमे पतजलिने अपना सारा जीवन भर दिया। बाईससौ वर्षोसे यह छोटा मणि-दीप अपने मूल्यके तेजमे ज्योका-त्यो प्रदीप्त है।

इससे विपरीत, पुराणोकी वृत्ति है। उस कहावतके अनुसार कि "खोदा पहाड, निकली चुहिया" पुराणोका चिन्तन विहित नही है, उसका श्रवण विहित है। अर्थात् सिर्फ सुनने-सुननेसे काम है। याद रखनेकी जिम्मेदारी नही। उलटे, जितना भुला सके उतना खुशीसे और जरूर भुला दे। इतनेपर भी कुछ सस्कार मनपर रह ही जायेगे। वही उसका काम है। बहुजन-समाजको, कोई कष्ट दिये बिना, सस्कार पहुचानेके लिए पुराणोका जन्म है। इन दिनो मै खाडण (रूई निकियानेका एक प्रकार) करते-करते समाजवादका श्रवण करता हू। सर्व-सामान्य समाजवादी-साहित्यकी शैली पुराणसे मिलती-जुलती है। भारवत्ता और स्वल्पसारत्व, पुनरुक्तिकी अपार शक्ति और समाज सेवाकी उतनी ही तडफडाहट समाजवादी साहित्यकी

यही विशेषता है। इस सबधमे संस्कृतके पुराण ही उसकी समता कर सकते है। समाजवादी साहित्यके इस गुणके कारण बुद्धिपर बिना कोई जोर पडे समाजवादका मुझे ज्ञान मिलता रहता है। और खाडण निर्बाध—बे-खटके चलता रहता है।

ग्राम सेवा-वृत्तसे

११—ग्राम-सेवा-शास्त्रकी एक कलम

देहातोकी सेवाके शास्त्रका दिन-पर-दिन चिंतन कर रहा हू। कई बातें निश्चित हो चुकी है, कई अभी होनी बाकी है। देहातोके सेवाके शास्त्रकी एक कलम (धारा) निश्चित है—"कम-से-कम आठ घटे शरीर परिश्रम और वह भी आजकी परिस्थितिमे राष्ट्रीय जीवनमे पडे हुए गड्ढेको पाटने के लिए।" और कलमे इसी तरह निश्चित हो रही है। एक-एकपर ही अमल करना शुरू कर देगे, तो निर्णय हो जायगा।

शरीर-परिश्रमके फलस्वरूप जडता पैदा होनेका डर मुझे नही है। विचारोकी भाफ जब अदर-ही-अदर बन्द रहती है, तो चितनके लिए यथेष्ट अवकाश मिलता रहनेके कारण उलटे तीव्रता बढती है, ऐसा अनुभव हो रहा है। अगर योगपूर्वक काम किया जाय, तो शरीर कमजोर होनेका कोई सबब नही है। बल्कि बलवान् होनेके लिए यथेष्ट कारण है। आठ घटे काम करनेपर भी चार-पाच घटे अवातर सेवाके लिए बाकी रहते है। आठ घटेका शरीर-परिश्रम एक बडी भारी सेवा साबित होती है। वक्तृत्व उतना वाग्पटु नही है, जितना कि उदाहरण है। और अगर वक्तृत्वकी सहायताकी जरूरत ही रहती हो, तो ठीक उसी तरह रहती है जैसे कि एकके अकको शून्यकी होती है। उतनी मदद ली जा सकती है।

हिदुस्तानका आजका सबसे मुख्य रोग है आलस। उसे महारोग भी कह सकते है। इसकी रामबाण औषध है उद्योगी मनुष्यका जीता-जागता उदाहरण और सगति। हम निरतर उद्योग करते रहकर उसे व्यवस्थित

हिसाबी वृत्तिसे सफल बनाकर, अपनी कृति और सगतिसे और साथ-साथ समझा-बुझाकर उस रोगका निवारण कर सकते हैं।

इसलिए (१) उद्योग चाहिए, (२) वह निरतर चाहिए, (३) वह हमारे जीवनमे घुल-मिल जाना चाहिए, (४) उसीपर हमारे जीवनका आधार होना चाहिए, (५) सारे बाहरी आधारका त्याग करना चाहिए, (६) उद्योग व्यवस्थित चाहिए और (७) उसकी सफलता सिद्ध होनी चाहिए।

जबतक इतनी बाते नही होगी, तबतक देहाती जनतामे हमारे कार्यका प्रवेश नही होगा, चाहे हमारे शरीरका भले ही हो।

लोक-सग्रह या सेवाकी गलत, मोहक और त्वरित कल्पनाके चक्करमे पड़कर नाना उद्योग अथवा व्यवसाय अथवा ढोग या रग-ढग खडे करनेसे एक क्षणके लिए लोगोकी भीड लगी हुई दीख पडेगी। लेकिन वह कार्यकारी नही होगी।

ग्राम-सेवा-वृत्त : मार्च १९४१

१२—गांवका आरोग्य

उस दिन पवनारका एक लडका मुझे रास्तेमे मिला। बोला, "मुझे खुजली हो गई है, कोई उपाय बताइए!" मैंने उसे थोडेमे बतला दिया, रोज सबेरे गायका ताजा मट्ठा पीए जाओ, इससे तुम्हारा रोग जाता रहेगा। गावके मेरे सारे अनुभवका यह निचोड है कि गायका ताजा मट्ठा गावके लिए एक भारी तारक (तारनेवाला) तत्त्व है। इसके लिए मैंने एक सस्कृत सूत्र बनाया है—

तक्रं तारकम्—

गावमे खाज-खुजली, दाद इत्यादि चर्म रोग छोटे बच्चोसे लगाकर बूढोतक सबको दिखाई देते है। मुझे इसके जो जकारण जान पडे, वे उपाय सहित बतलाता हू—

(१) **गंदी रहन-सहन**—और उसमे भी नहानेकी लापरवाही। रोज न नहानेवाले भी है। लेकिन जो रोज नहानेवाले है उनका भी नहाना

'नहाना' नही कहला सकता। नहाना तो पूरा नही होता, अलबत्ता 'भीगे कान और हुए असनान' की कहावत पूरी होती है। सारे बदनको रगड़कर नहानेकी कौन कहे, पूरा बदन गोलातक नही करते। इसलिए घरमे परदे-दार नहानेकी जगह चाहिए जहा नगे होकर नहानेकी आदत और रिवाज डालना सिखाया जाना चाहिए। गुप्त अगोको अच्छी तरह मलकर धोना चाहिए। यह सार्वत्रिक शिक्षणका विषय है।

(२) **पीनेका साफ पानी**—खासकर नदी किनारेके गावोमे और उसमे भी बरसातके दिनोंमे लोग जो पानी पीते है वह बहुत ही गन्दा होता है। इसका साधारणसे साधारण उपाय पानीको औटाकर पीना है। हरि-जन बस्तियोमे तो स्वच्छ पानी नसीब ही नही होता। हरिजनोके पानीका सवाल बिलकुल सामान्य भूतदयाका सवाल है। ऐसे मामूली सवालकी ओरसे जो समाज आखे मूदता है वह स्वराज्यके लायक कैसे समझा जा सकेगा।

(३) **भोजनकी कमी और भूलें**—इस शीर्षकमे तीन मुख्य दोष आते है। इन्हे मै गावके आहारके त्रिदोष कहा करता हू—

(अ) भोजनमे भूल कहिए सडी-घुनी चीजोका उपयोग। गावमे मास और मछली जो मोल लेकर खाई जाती है, वह बहुत करके 'सडी' ही कहनी चाहिए। गावोमे मजदूरोको जो अनाज मिलता है वह प्राय घुना और रद्दी मिलता है। देहातके महाजनोको इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(आ) गावके आहारमे जो एक जबरदस्त कमी है, वह है रोजके भोजनमे तरकारीका अभाव। तरकारीके महत्वपर ज्यादा लिखनेकी जरूरत नही है, क्योकि उसकी जरूरत तयशुदा चीज हो गई है। किसानोकी खुराकमे किसी किसी मौसममे तो तरकारीका नाम भी नही होता। कहनेवाले तो नाजसे चौगुनी तरकारी खानेकी बाततक पहुचते है। मै यह नही कहूगा। उलटे मै तो मानता हू कि तरकारीकी मिकदार साधारणत. कम ही ठीक है, तथापि हर रोज आदमी पीछे दस तोला तरकारी तो किसानके भोजनमें जरूर ही होनी चाहिए।

(इ) भोजनमे दूसरी कमी है गायके मट्ठेकी, जिसका जिक्र लेखके शुरू ही में किया गया है । रोजकी खुराकमें कुछ-न-कुछ पाचक अम्लतत्व होना जरूरी है । गायका ताजा मट्ठा, यह थोडी कोशिशसे सबको रोज मिल सकने लायक उत्तम अम्ल है । इसके सिवा दूधका सारा ओज (प्रोटीन) मट्ठेमे है । खनिज लवण भी उसमे भरपूर है । अगर कम-से-कम पावभर मट्ठा किसानको रोज मिल जाय तो वह कई रोगोसे बचा रह सकता है ।

थोडी मेहनत करनेपर इतना-सा मट्ठा मिलना मुश्किल नही है । पर मिलेगा तभी, जब उसके लिए मेहनत की जायगी ।

ग्राम सेवा वृत्तसे

१३—गंभीर अध्ययन

अध्ययनमे लबाई-चौडाई महत्वकी चीज नही है, महत्व है गभीरताका। बहुत देरतक घटोके घटे और भाति-भातिके विषयोका अध्ययन करते रहनेको मै लबा-चौडा अध्ययन कहता हू । समाधिस्थ होकर नित्य-निरतर थोडी देर किसी निश्चित विषयके अध्ययनको मै गभीर अध्ययन कहता हू । १०-१२ घटे सोना, पर करवटे बदलते रहना या सपने देखते रहना—ऐसी नीदसे विश्राति नही मिलती । बल्कि ५ ही ६ घटे सोवे किंतु निद्रा गाढ हो तो इतनी नीदसे पूर्ण विश्राति मिल सकती है । यही बात अध्ययनकी है । समाधि अध्ययनका मुख्य तत्व है ।

समाधि-युक्त गभीर अध्ययनके बिना ज्ञान नही । लबा-चौडा अध्ययन बहुत कुछ फालतू ही होता है। उसम शक्ति का अपव्यय होता है। अनेक विषयोपर गाडी भर पढाई पढते रहनेसे कुछ हाथ नही लगता । अध्ययनसे प्रज्ञा, बुद्धि स्वतन्त्र और प्रतिभावान होनी चाहिए । प्रतिभाके माने है बुद्धिमे नए-नए कोपले फूटते रहना । नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति ये सब प्रतिभाके लक्षण है । लबी-चौडी पढाईके नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है ।

वर्तमान जीवनमे आवश्यक कर्म-योगका स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए। अन्यथा भविष्य जीवनकी आशामें वर्तमान कालमे मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है यह प्रत्येकके अनुभवमे आनेवाली बात है। भगवानकी हम सबपर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममे वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जागृत रहें।

दो बिदुओसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी दो बिन्दुओंसे ही निश्चित होता है। हम है कहा यह पहला बिदु, हमे जाना कहा है यह दूसरा बिदु। इन दोनो बिंदुओका तै कर लेना जीवनकी दिशा तै कर लेना है। इस दिशापर लक्ष्य रखे बिना इधर-उधर भटकते रहनेसे रास्ता तै नही हो पाता।

साराश, 'अल्प मात्रा सातत्य, समाधि, परमावकाश और निश्चित दिशा' यह गभीर अध्ययनका सूत्र है।

ग्राम सेवा वृत्त से

१४- –निसर्ग-सेवनकी दृष्टि

तुम सब आजकल निसर्गकी उपासनाका आनन्द ले रहे हो। हवाखोरीकी कल्पना निसर्गके पूरे-पूरे फायदे हासिल करने नही देते। इसलिए केवल उतनी ही कल्पना न रखते हुए उसके साथ-साथ दूसरी भी व्यापक कल्पना की जाय तो ऐसे स्थान हरि-दर्शन करा सकेंगे। पहाड, नदी आदि स्थानोंमे शिमला, महाबलेश्वर इत्यादि विलास-स्थानका निर्माण करनेमे ईश्वरका अत्यत अपमान है। हमारे पूर्वज इस प्रकार अपमान नही करते थे। इसलिए निसर्ग देवताकी कृपासे उन्हे आध्यात्मिक लाभ होता था।

वैदिक ऋषि, उपनिषद्, गीता, योगशास्त्र, सन्तोके अनुभव इन सबोमे एकात सेवन और निसर्ग परिचयके अनेक विधलाभोका वर्णन है। . . मनुष्य समाजके अति प्राचीन ग्रथसे एक वचन यहा उद्धृत कर रहा हू।

'उपह्वरे गिरीणाम्। संगमे च नदीनाम्।' धिया विप्रो अजायत।—
ऋग्वेद

इस मन्त्रका ऋषि 'वत्स काण्व' है। छन्द गायत्री। देवता इद्र। इद्र याने परमात्मा। उसीको इस मन्त्रमे 'विप्र' याने 'ज्ञानी' कहा है। वह कहा और कैसे प्रकट हुआ ('अजायत'—जन्म लिया, प्रकट हुआ) यह इस मन्त्रमे कहा है। 'पर्वतोकी कदराओमे और नदियोके सगमपर ध्यान-चितनसे ('धिया') ज्ञानीका जन्म हुआ।"

ज्ञानी पुरुषका जन्म किस स्थानपर हुआ और वहा क्या करनेसे हुआ, ये दोनो बाते इस मन्त्रमे है।

ग्राम-सेवा-वृत्त

१५—अतिथिको देव क्यों मानें ?

जिन-जिनका हमपर उपकार है उन-उनके विषयमे देव-भावना रखकर उनकी सेवा करना और उनके ऋणसे चाहे थोडा ही क्यो न हो, मुक्त होना हमारा धर्म है। मातृ-देव, पितृ-देव और आचार्य-देव, ये तीन देव माननेकी बाततो आसानीसे समझमे आ जाती है। इनके हमपर बडे उपकार है। उसी प्रकार समाजका भी हमपर बडा एहसान है। हम समाजकी अनत प्रकार की सेवा लेते ही रहते है। इसलिए समाजको देवता मानकर बदलेमे उसकी सेवा करना हमारा धर्म हो जाता है। हमे अपने घर आनेवाले अथितिको समाज का एक प्रतिनिधि समझना चाहिए। अतिथिके रूपमे समाज हमसे सेवा माग रहा है, हमारी यह भावना होनी चाहिए। समाज केवल अव्यक्त है—अत 'अतिथि-देव'का अर्थ है 'समाज-देवता'। समाज अव्यक्त है, अतिथि व्यक्त है। समाजकी अतिथि व्यक्त मूर्ति है। अतिथिकी भाति दीन, दु खी, पीडित, रोगी इत्यादिकी सेवा करना भी समाज-पूजाका एक अग है। दरिद्रनारायण भी एक महान् देवता है। उनका हमपर वह उपकार है जिसका कभी बदला नही चुकाया जा सकता।

ग्राम-सेवा-वृत्त

१६—भगवान दीनबंधु हैं

प्रभुको चिंता सबकी रहती है, पर विशेष चिंता उसे दीनोकी होती है। और लोग प्रभुके भी है, पर दीन प्रभुके ही है। औरोका आधार भी और होता है, किंतु दीनोका तो आधार दीनदयाल ही होता है। समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलसे उडे हुए पछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहा हो सकता है ? उससे हटकर वह कहा रह सकता है ? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे ? इसलिए दीन प्रभुके कहलाते है, प्रभु दीनोका कहलाता है। दीनताका यही वैभव देखकर कुतीने उस समय जब उसे प्रभुने वर मागनेको कहा, दीनता मागी। कोई कह सकता है, कि प्रभु तो देता था कटोरीमे, पर अभागिनीने मागा दोने मे ! फूटी कटोरीसे साबित दोना सौ दर्जे अच्छा।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमे ही पूछ बैठे कि, तो फूटी कटोरीकी बात क्यो ? मै स्पष्ट कहूगा कि नही, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान है, पर अन्दर पैठकर देखे तो वह धातकी कटोरी धातकी वस्तु बन जाती है। कटोरीकी छातीमे एक बडी धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नही ले जायगा ? दोनेके लिए यह भय असभव है, अत. वह निर्भय है।

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोमे, जो बडा सो चोर। ऐसे उदाहरण बहुत थोडे है, कि आदमी बडा हो और उसपर प्रभु न्यौछावर हो। लगभग ऐसे उदाहरणोका अभाव ही है, और जो कही और कभी दीख पडे, तो ऐसे कि जन्मका बडा, किंतु बडप्पन खोकर-अत्यत दीन होकर—भगवानके शरण पडा हुआ। उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खीच लिया। राजा बलिने जब राजत्वका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तब प्रभुने उसके आगनमे खडे रहना अगीकार किया। गजेंद्रको जबतक अपने बलका घमड रहा, तबतक उसने सबकुछ करके देख लिया और जब गर्व गला तब उसे दीनबन्धुकी याद आई। उसी दिनकी कथाका नाम तो 'गजेन्द्र-मोक्ष' है। और अर्जुन ? जिस दिन वह

अपनी जानकारीके ज्वारसे जीवित बाहर आया उस प्रभुने उसके सम्मुख गीता बाची। पार्थका—प्रभुसे ही मतभेद हो गया। बडा आदमी जो ठहरा! प्रभुके मतसे उसके मतका सौतियाडाह क्यो न हो? किन्तु बारह वर्षके वनवासने उसे 'महत्ता' से उतारकर 'सतता' की सेवा करनेका अवसर दिया। जब जानकारीपर अधिष्ठित मतके पाव डगमगाने लगे तो उसने निकटस्थ प्रभुके पाव पकडे। "मै तो इन्द्रियोका गुलाम हू। और मेरा 'मत' क्या? मेरी तो इन्द्रिया चाहे जैसा निश्चय करती है और मन मल्ल उसपर अपनी सही कर देता है। वहा धर्मको देख सकनेवाली दृष्टिका गुजर कहा? प्यारे, मै तुम्हारे द्वारका सेवक हूँ। मुझे तुम्ही बचाओ।" तब भगवानकी वाचा फूटी—गीता कही जाने लगी। परन्तु गीता कहते-कहते भी श्रीकृष्णने एक बात तो कह ही डाली—"बडप्पनकी बात तो खूब करते हो" गरज यह, कि बडे लोगोमे यदि किसीके, प्रभुके प्यारे होनेकी, बात सुनी जाती है, तो वह उसीकी, जो अपना बडप्पन, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा दीन, निराधार बन गया। तब वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जिसे जगतका आधार है, उसकी जगदाधारसे कैसी रिश्तेदारी? जिसके खातेमे जगतका आधार जमा नही रह गया, उसीका बोझ प्रभु अपने कधोपर ढोते है।

ह० से० १९३४